बुनियादी शिक्षा

[मध्यभारत शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत]

BASIC EDUCATION

[PRINCIPLES AND PRACTICES]

लेखक

मिलापचन्द्र दुबे, बी. ए., एल. टी.,

बेसिक ट्रेन्ड (सेवाग्राम)

प्रिन्सिपल, बेसिक नार्मल स्कूल,

मानपुर (मध्यभारत)

१९५२

द्वितीय संस्करण

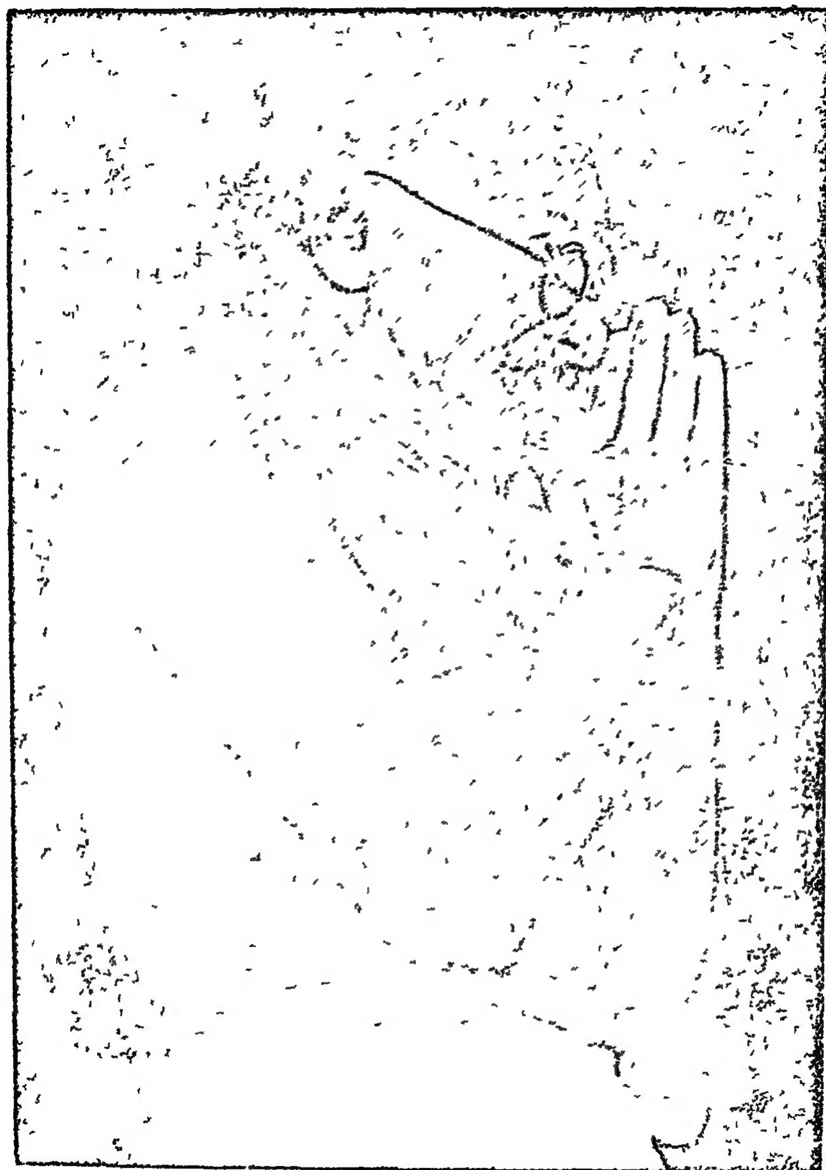
प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या



बुनियादी शिक्षा के जन्मदाता बापू

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक इसी नाम की पूर्व प्रकाशित पुस्तक का नवीन संस्करण है। इसमें बुनियादी शिक्षा पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। शिक्षा सिद्धान्त, शिक्षा शास्त्रियों के विचार और शिक्षा पद्धतियों पर इसीलिये प्रकाश डाला गया है कि शिक्षा की यह नवीन योजना शिक्षा सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हैं। संसार की भिन्न-भिन्न शिक्षा पद्धतियों का उद्देश्य समाज को एक निश्चित दिशा में संगठित करना रहा है। उसके पीछे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम करने की नियत रही है। इसी उद्देश्य को लेकर राष्ट्रपिता बापू ने इन नवीन पद्धति को जन्म दिया जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक और देश की आवश्यकताओं के अनुकूल है।

उद्योग द्वारा शिक्षा और समवाय ही इस पद्धति की आत्मा है अतः पुस्तक में इसके विवेचन को पर्याप्त स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस संस्करण मे अनेक उपयोगी बातों का समावेश किया गया है जिनको पूर्व प्रकाशित पुस्तक में स्थान नहीं मिल सका था।

शिक्षा विभाग मध्यभारत ने इस पुस्तक को नार्मल स्कूलों के लिए स्वीकार कर प्रोत्साहन प्रदान किया। अतः लेखक अत्यन्त आभारी है और यह संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण नवीन भेंट के रूप मे अर्पित करता है। जिन पुस्तकों से प्रकाश लिया गया है उनके प्रकाशकों का लेखक अत्यन्त आभारी है पाठकों से नम्र निवेदन है कि पुस्तक में सुधार सम्बन्धी सुझावों को लेखक सदैव कृतज्ञता से स्वीकार करेगा।

मिलापचन्द्र दुबे

आमुख

शिक्षा के क्षेत्र में बुनियादी तालीम प्रयोग की अवस्था से गुजर रही है। यद्यपि अभी इसकी कोई सर्वमान्य, सुनिश्चित एवं वैज्ञानिक रूपरेखा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी भौतिकवादी मनोविज्ञान से संत्रस्त एवं पीड़ित मानव के लिये इसमें एक सरल तथा जीवन के क्रियात्मक मूल्यों पर आधारित हल का दर्शन स्पष्ट प्रतीत होता है। बुनियादी तालीम की दार्शनिक पृष्ठभूमि भारतीय होते हुए भी विश्व-कल्याण के मूल-भूत तत्वों तथा सफल जीवन के अध्यवसायी एवं क्रियात्मक दृष्टिकोण से ओतप्रोत है।

जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान एवं अन्य सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित बुनियादी तालीम के दृष्टिकोण को गांधीवादी जीवन दर्शन के प्रकाश में सरल एवं व्यवस्थित विचार धारा के रूप में रखने का प्रयत्न आज के भारतीय शिक्षा क्षेत्र में बड़ी तत्परता से किया जा रहा है। पूज्य बापू का आदर्श ऐसे समाज का निर्माण रहा है जो स्वयं प्रेरित, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एवं सहयोगी हो। इसके लिये उन्होंने उत्पादक श्रम पर आधारित आध्यात्मिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप में मूर्तिमान करने का प्रयत्न किया है। रचनात्मक प्रवृत्तियों के समस्त कार्यक्रमों में बुनियादी शिक्षा सर्वश्रेष्ठ है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इन बातों पर भली भांति प्रकाश डाला है तथा अत्यन्त श्रम एवं अध्यवसाय के साथ अन्य शिक्षा-सिद्धान्तों एवं प्रणालियों से तुलनात्मक विवेचन द्वारा बुनियादी शिक्षा को समझाया है।

भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियों पर आधारित शिक्षा क्षेत्र में कार्य द्वारा शिक्षण तथा स्वावलम्बनपूर्ण जीवन का विकेन्द्रित एवं आध्यात्मिक स्वरूप एक ऐसी मौलिक देन है जिसका विश्व-मानव

की जागरूकता के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक सुन्दर प्रयास है। लेखक ने जीवन के सर्वांगीण तत्वों को बुनियादी तालीम के दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया है। इस छोटी सी पुस्तक में इतने बड़े विषय को जिस सतर्कता एवं उत्तरदायित्व से निभाने का प्रयत्न किया गया है वह अत्यन्त सराहनीय है। 'नई तालीम पर गाँधीजी के दार्शनिक विचार' 'विश्व शान्ति और शिक्षा' ग्रामसुधार और बुनियादी शिक्षा' तथा 'हमारा जनतन्त्रीय विधान और नई तालीम' इन विषयों पर लेखक का अनुभव एवं श्रम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

बुनियादी शिक्षा पर लिखते समय गाँधीवादी विचारधारा से सम्बन्धित ग्रन्थों की सहायता लेना अनिवार्य सा हो जाता है। श्री० कुमारप्पा द्वारा रचित 'Philosophy of Work' एवं 'Economy of Permanence' तथा श्रीयुत कृपलानी द्वारा लिखित 'Latest Fad in Education' ऐसी ही पुस्तकें हैं। अतएव लेखक का इनसे प्रभावित होना सहज सम्भाव्य है।

लेखक के पीछे एक सफल अध्यापक प्रधानाध्यापक तथा सहायक निरीक्षक का लगभग पच्चीस वर्षों का परिपक्व अनुभव है। इस अनुभव की छाप पुस्तक में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है श्रीयुत दुबे जी के व्यवहार मे विनम्रता, विचारों में उच्चता, हृदय मे भावुकता एवं कार्य में कुशलता है। उनके इन सद्गुणों का प्रतिबिम्ब उनकी लेखनी में भी उतर-सा आया है। बुनियादी शिक्षा से सम्बन्धित सभी के लिये तथा विशेष कर प्राथमिक एवं माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के लिये और नार्मल स्कूल तथा सी० टी० कालेज में शिक्षा पाने वाले छात्राध्यापकों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

गवर्नमेण्ट-टीचर्स, कॉलेज
देवास (मध्यभारत)

व्रजकिशोर दीक्षित,
एम. ए., एम एड.

सम्मति

हिन्दी के राष्ट्र भाषा पद पर आरूढ़ हो चुकने पर उसका उत्तर दायित्व और अधिक बढ़ गया है। साहित्यकार उसकी श्री वृद्धि में जुट गये हैं किन्तु आज भी उसमें शिक्षा शास्त्र की पुस्तकों का अभाव खटक रहा है और इसी कारण शिक्षक विद्यालयों और महाविद्यालयों में आँग्ल भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा देने की प्रवृत्ति का उन्मूलन नहीं हो पाया है। दुःख तो इस बात का है कि इस दिशा में बहुत कम प्राध्यापक प्रयत्नशील हैं। आँग्ल भाषा का मोह पद पद पर बाधक बन रहा है परन्तु दुबेजी ने इस ओर अपनी लेखनी उठा कर वास्तव में स्तुत्य प्रयास किया है। मैंने दुबेजी को प्रधानाध्यापक, सहायक निरीक्षक, प्राध्यापक तथा अपने प्रिय छात्राध्यापक के रूप में अत्यन्त निकट से देखा है और मुझे उनका अध्यवसाय, सेवा भाव व शिक्षण प्रेम देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। यहाँ मैं उनकी भूरिभूरि प्रशंसा करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ साथ ही भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे उनके हृदय में यह प्रेम दिन दूना बढ़ाते रहें और दुबेजी इस भण्डार की पूर्ति करने में संलग्न रहे।

प्रस्तुत पुस्तक पर कोई सम्मति देना मेरे लिये अनुचित है। यह मेरे अनन्य छात्र-शिक्षक का प्रयास है और स्वभावतः मुझे इससे प्रेम है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में इसका समादर हुआ तो मुझे विश्वास है कि लेखक को इससे अच्छा प्रोत्साहन मिलेगा और भविष्य में वह इससे भी अधिक सुन्दर कृति लेकर मातृभाषा की अर्चना करेगा।

विद्वान् और अनुभवी लेखक ने प्रधानतया नई तालीम पर सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये हैं और साथ में शिक्षा शास्त्र के कुछ स्थूल नियमों का परिचय भी दिया है। पुस्तक में प्रयुक्त सभी विचारों से मेरे लिये सहमत होना आवश्यक नहीं पर फिर भी पुस्तक उपादेय है और लेखक का उद्योग सराहनीय। आशा है जिनके लिये पुस्तक लिखी गई है उन्हें यह लाभप्रद सिद्ध होगी।

वसन्तीलाल शर्मा,
एम. ए., एम. एड.

१

शिक्षा का उद्देश्य

जीव सृष्टि के आदि काल से ही शिक्षा का उदय हुआ है। शिक्षा और सभ्यता के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि मनुष्य के विकास के क्रम ही के अनुसार शिक्षा में भी अन्तर पड़ता गया है। जो जीव अपने लिये परिस्थिति व वातावरण के अनुकूल न बना सके उनको संसार से अपना अस्तित्व खो बैठना पड़ा। इसीलिये शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वातावरण के अनुकूल बनाना ही है। शिक्षा के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। मनुष्य अपनी आदि कालीन बर्बरता छोड़कर सभ्य हो जाता है। शिक्षा ही के द्वारा मनुष्य समाज का स्वस्थ, सुखी और सहायक अंग बनता है। आदि काल से जो मनुष्य सीखता आया है वही उसके ज्ञान का संचित भण्डार है। मनुष्य की प्रकृति स्वयं विकास-शील है। शिक्षा इसी विकास के लिये चेतना प्रदान करती है। शिक्षा का क्षेत्र भी जन्म की प्रथम श्वास से अन्तिम श्वांस तक है। बुद्धि की विशेषता के कारण ही मनुष्य अन्य जीवधारियों से भिन्न है। इसी विशेषता ने उसकी समस्याओं को अधिक विषम तथा गम्भीर बना दिया है। इनकी पूर्ति के उद्देश्य से ही समय समय पर शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहा है।

इस सम्बन्ध में अनेक विचारधाराएँ काम करती रही हैं। (१) इनमें से' एक यथार्थवादी और प्रकृतिवादी है। रूसो और हर्बर्ट स्पेंसर इसी मत के प्रतिपादक हैं जो जीवन की सम्पूर्ण तैय्यारी।ही

शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। इसी विचारधारा के पेस्टॉलाजी भी हैं जो व्यक्तित्व के संतुलित विकास को ही शिक्षा का ध्येय मानते हैं।

(२) दूसरी विचारधारा आदर्शवादी है। ज्ञान का संचय, संस्कृति का विकास, व्यक्तित्व का विकास और चरित्रगठन को ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। इसमें व्यक्तिवाद के प्रतिपादक टी. पी-नन और चरित्रगठन के पक्षपाती हर्बार्ट हैं।

(३) इनके अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा और है जिनके मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक योग्यता प्राप्त करना है। इसके पक्षपाती डा. जॉन ड्यूई हैं।

प्रत्येक का संक्षिप्त विश्लेषण कर हम देखेंगे कि क्रमशः किस प्रकार शिक्षा उद्देश्यों में अन्तर आता गया है।

एक समय जीविकोपार्जन मात्र ही शिक्षा का उद्देश्य रहा। इससे बुद्धि का विकास रुक गया। मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता है। उसे समाज में अपना स्थान प्राप्त करना होता है। समाज के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के पास एक आत्मा भी है जिसको आत्मिक भोजन देने के लिये उसके पास ज्ञान का भण्डार भी चाहिये। इसलिये उद्देश्य ने पलटा खाया और शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक बना दिया गया।

दूसरा उद्देश्य ऊपर के उद्देश्य का ठीक उलटा ही है। एक में उद्योग की प्रधानता और व्यावहारिकता है तो दूसरे में बौद्धिक विकास मात्र ही है। एक उद्देश्य भौतिकवादी की ओर प्रेरित करता है और जीवन को क्रियाशीलता देता है तो दूसरा केवल ज्ञान की वृद्धि कर जीवन को क्रियाहीन बनाता है। ज्ञान के संचय का कुछ उपयोग होना चाहिये। ज्ञान मनुष्य को शक्ति भी देता है और शान्ति भी देता है किन्तु ज्ञान का प्रयोग कैसा किया गया है इसी पर शान्ति अवलम्बित रहती है। आज के संसार ने मस्तिष्क का अच्छा विकास किया और अनेकानेक नवीन आविष्कारों से विश्व को चकित कर दिया। क्या ये सब आविष्कार शान्ति के ही साधन

हुए हैं ? उत्तर मिलेगा—नहीं। इन साधनों की विध्वंसकारी शक्ति से कौन परिचित नहीं है। क्या इसी बुद्धि के विकास को शिक्षा का ध्येय माना जा सकता है? कदापि नहीं। शिक्षा के साथ सभ्यता की भी आवश्यकता है। इसी को संस्कृति भी कहते हैं।

ऊसर के विचारों ने शिक्षा के उद्देश्य में हेर फेर कर दिया और संस्कृति ही शिक्षा का ध्येय माना जाने लगी। ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क को बनाता है तो संस्कृति मनुष्य के हृदय को बनाती है। यह जीवन को सुन्दरता और सरसता प्रदान करती है। इसीलिये शिक्षा के अन्तर्गत ज्ञान की दोनों शाखाओं को स्थान दिया गया है। विज्ञान हमारे मस्तिष्क की साधना का साधन है तो कला हमारे हृदय की साधना का अंग है। ससार के विचारकों ने जो सबसे श्रेष्ठ सोचा है और कहा है वही जीवन की कला है। इससे अवगत कराना शिक्षा का उद्देश्य माना गया है।

संस्कृति के उद्देश्य को अपूर्ण मानकर सम्पूर्ण जीवन की साधना शिक्षा का उद्देश्य माना गया। इसके अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यवहार कुशलता को प्रधानता दी गई। हरबर्ट स्पेंसर की भाषा में जीवन की लम्बाई और चौड़ाई की साधना ही शिक्षा है जिससे मनुष्य दीर्घ जीवन के साथ साथ अपने जीवन में अनेक प्रकार की क्रियाशीलता द्वारा अपने जीवन का पूरा प्रदर्शन कर सके इनके मतानुसार शिक्षा के पॉच अंग बनाये गए हैं। (१) आत्म संरक्षण, (२) जविकोपार्जन, (३) वंश वृद्धि तथा बच्चों का पालन पोषण, (४) सामाजिक तथा राजनैतिक कुशलता, (५) अवकाश का सदुपयोग।

यद्यपि इनके अन्तर्गत जीवन के क्षेत्र की सम्पूर्ण शिक्षा का समावेश है और शिक्षा की दोनों शाखाओं—कला और विज्ञान—को समुचित प्रधानता दी गई है तो भी उन्नति को तोलने की कोई तराजू निश्चित नहीं की गई है। नैतिक शिक्षा का दृष्टिकोण बिलकुल

ही भुला दिया गया है जिसकी मानव जीवन में प्रधानता है। यही विशेषता मनुष्य को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाती है।

हरबार्ट ने इसलिए नैतिकता को ही शिक्षा का उद्देश्य स्थापित किया है। उसके अनुसार मनुष्य अपने उच्च विवेक से हीन भावनाओं पर अधिकार करता है। इसके लिए उसने प्रबल इच्छा शक्ति की साधना बताया है। उसके मतानुसार शिक्षा से विचार बनते हैं। विचारों से इच्छा शक्ति प्रबल होती है। इच्छा से मनुष्य कार्य की ओर प्रेरित होता है। कार्य द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का गठन होता है। इसलिए मनुष्य को ज्ञान की अनेक शाखाओं में रुचि रखना चाहिये। उसने एतिहासिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान को प्रधानता दी है। मनुष्य के चरित्र गठन के लिये उसने मनुष्य की चतुर्मुखी रुचि को साधना बतलाया है।

चरित्रगठन शिक्षा का उद्देश्य माना गया किन्तु मनुष्य के चरित्र-गठन का साधन तो समाज ही है। मनुष्य की शिक्षा समाज से बाहर नहीं हो सकती है। मनुष्य ही समाज को बनाता है। समाज से ही मनुष्य बनता है। नैतिकता की व्यावहारिक शिक्षा समाज में ही संभव है। इसलिये मनुष्य को समाज के योग्य बनना ही शिक्षा का उद्देश्य बन गया। इसके अनुसार (१) मनुष्य को अपना भार स्वयं उठाना चाहिये, (२) एक निश्चित परिमाण में उसके मस्तिष्क का विकास होना चाहिये, (३) व्यावहारिक नियमों का पालन करना चाहिए, (४) दूसरे की उन्नति के प्रयत्नों में बाधक न होते हुए मानव उन्नति में भाग लेना चाहिए।

समाज कभी-कभी मनुष्य के व्यक्तिगत व्यक्तित्व को भूल जाता है और प्रत्येक मनुष्य को एक ही सांचे में ढालना चाहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेषता में दूसरे से भिन्न है यही समता में एक विषमता है। प्रत्येक मनुष्य का समाज में स्थान है और मनुष्यों से ही समाज बनता है। मनुष्य की विशेषता को विकसित और सम्पूर्ण किया जाना चाहिये। कहीं-कहीं मनुष्यों को एकसा बनाने

की धुन में व्यक्तित्व पर आघात किया जाता है और समाज मनुष्य की ईश्वरप्रदत्त नैसर्गिक देन से वंचित रहता है। प्रत्येक मनुष्य की ये विशेपताएँ विकसित होकर समाज को उन्नत बना सकती हैं। इसीलिये आवश्यकता है कि पाठ्यक्रम विस्तृत हो जिसमे बालकों की व्यक्तिगत रुचि के विस्तार को समुचित क्षेत्र हो।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को समाज मे रहकर अपनी विशेपताओं को विकसित कर समाजोपयोगी बनाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। इसमे भौतिकवादी, यथार्थवादी और आदर्शवादी तीनों विचारधाराओं का समन्वय है।

कुछ चुने हुए शिक्षा के उद्देश्य

'प्रत्येक मनुष्य को सद्‌गुणी समाज मे सद्‌गुणी जीवन व्यतीत कर उच्चकोटि के आनन्द को प्राप्त करने मे सहायता देना ही शिक्षा है।' —अरस्तू

'संसार का ज्ञान तथा उसमे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करने की क्षमता प्रदान करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।'

—लॉक

'प्रत्येक मनुष्य को उस कार्य की योग्यता प्राप्त करना चाहिये जिसको कि वह अपने समाज के लिए अधिक से अधिक उपयोगी समझता है।' —प्लेटो

'शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को मनुष्यता के लिए, उपयोगिता के लिए आनन्द के लिए तैय्यार करना है न कि किसी पद के लिए।'

—कमीनियस

सामाजिक सम्बन्ध को सुदृढ़ करने को अनुभव के पुनः निर्माण की लगातार क्रिया ही शिक्षा का काम हैं। —जॉन ड्यूई

वर्तमान समाज में ही सफलता प्राप्त करने की योग्यता ही शिक्षा नहीं है वरन् मानवता के आदर्श समाज के लिए तैय्यारी ही शिक्षा है। —कान्त

सम्पूर्ण शिक्षा वह है जिसके द्वारा मनुष्य न्याय से, चतुराई से और महानता से व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रत्येक कार्य करने की योग्यता प्राप्त कर सके। —मिल्टन

शिक्षा वह प्रयत्न है जिसके द्वारा प्रत्येक आदमी भावीसन्तति को जीवन के आदर्शों की साधना में सहायता करना है। —जेम्स वेल्टन

शिक्षा का काम मनुष्य को वैसा ही बनाना नहीं है जैसा प्रकृति ने बनाया है वरन् ऐसा बनाना है जैसा कि समाज चाहता है। —डुरखीन

शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैय्यारी है। उसका कार्य उस ज्ञान व कुशलता का देना है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी आजीविका कमा सके व समाज में स्थान प्राप्त कर सके।

शिक्षा वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य का ज्ञान, व्यवहार व चरित्र का गठन होता है।

मनुष्य की शिक्षा और योग्यता जाँचने की कसौटी यही है कि उसने अपने राष्ट्र या समाज की उन्नति में कितना हाथ बटाया है। —रूजवेल्ट

२

शिक्षा के लिए मनुष्य की विशेषता

ईश्वर ने जीव सृष्टि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बनाया है। बुद्धि उसे सबसे बड़े वरदान के रूप में प्रदान की है। इसी पर केवल उसने अपने स्वयं के निरीक्षण, परीक्षण और अनुभव के द्वारा सारी सृष्टि पर अपना अधिकार जमा लिया है। यह उसकी शिक्षा की विशेष योग्यता का ही कारण है। मनुष्य वैसे तो साधारण धर्मा पशु ही है और उसकी मूल प्रवृत्तियाँ अन्य जीवधारियों के समान ही हैं किन्तु उसमें कुछ विशेषताएँ भी हैं जो उचित विकास पाकर उसको पशु श्रेणी से निकालकर मनुष्य श्रेणी मे ला देती है। यहाँ हम केवल उसकी तीन विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिनके कारण उसको यह विशेषता प्राप्त है।

वे विशेषताएँ ये हैं :—

(१) मनुष्य के मस्तिष्क का भारीपन।

(२) मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का संचालन मस्तिष्क द्वारा होना।

(३) मनुष्य के बालक का लम्बा बचपन।

इनको एक एक को लेकर अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि शिक्षा में इनका उपयोग कहाँ तक किया गया है।

मनुष्य का मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसके शरीर के अनुपात से अधिक भारी है। यह भारीपन मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति और ज्ञान संचय की अधिक योग्यता प्रदान करता है। यह भारी-

पन सबसे ज्यादा मनुष्य के बालक के बचपन की ही अवस्था में रहता है। दस वर्ष से भीतर की अवस्था में तो यहाँ तक बताया जाता है कि बालक के मस्तिष्क का भार उसके शरीर के अनुपात का ⅐ तक होता है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है भार का अनुपात कम होता जाता है। बचपन में इसीलिए प्राप्त ज्ञान गहरा जमकर स्थायी हो जाता है और भविष्य के उपयोग को संचित हो जाता है। मस्तिष्क के भारीपन में जितनी गहरी अभ्यास से रेखाएँ पड़ जाती हैं उतनी उसके हलकेपन में स्थायी और मजबूत नहीं पड़ने पाती हैं। इसीलिए यह आवश्यक है कि इस बचपन की बुनियादी अवस्था में जबकि बालक के मस्तिष्क का भारीपन अधिक से अधिक है उसकी बुनियादी आवश्यकताओं के संस्कार की रेखाएँ बुनियादी रूप में बिठा दी जाय। उसके विकास के अनुसार इन रेखाओं में गहरापन आता रहेगा और बुनियादी ज्ञान आगे को बढ़ता हुआ पुष्ट होता रहेगा। यदि इस भारीपन की अवस्था का समय पर उपयोग नहीं किया गया तो ज्ञान के नैसर्गिक केन्द्र जो मस्तिष्क में सुपुप्त है जागृत न होकर मृतक प्रायः ही हो जाँयगे। हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि गायन आदि अनेक ज्ञान की शाखाएँ हैं जिनका आरम्भ बचपन में होकर अवस्था के साथ अच्छा विकास हो जाता है। इस बुनियादी अवस्था में किसी केन्द्र विशेष की बुनियाद न पड़ने के कारण उस ज्ञान का श्रीगणेश भावी अवस्था में कठिन ही हो जाता है। अतः इस मस्तिष्क के भारीपन की अवस्था का उपयोग हमको अन्य प्राणियों पर श्रेष्ठता प्रदान करता है।

दूसरी विशेषता है मनुष्य की क्रियाओं का संचालन केन्द्र मस्तिष्क का होना। मनुष्य का स्नायु विभाग विकसित है। इसी विकास पर मनुष्य का अपनी क्रियाओं पर अधिकार होना अवलम्बित है। मनुष्य की भिन्न भिन्न क्रियाओं के संचालन केन्द्र मस्तिष्क मे ही है। पूरे शरीर पर फैले हुए स्नायुओं द्वारा शरीर के प्रत्येक

अंग पर, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर पूरा अधिकार है। इन्हीं इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क को ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए इनको 'ज्ञान के द्वार' कहा गया है। अन्य प्राणियों में मूल प्रवृत्तियों के ही आधार पर उनका जीवन संचालित होता रहता है। वे अपनी क्रियाओं का किसी विशेष परिस्थिति में कोई परिवर्तन करके निर्णय नहीं ले पाते हैं। मनुष्य की कुछ स्वभाविक क्रियाएँ अवश्य इसी प्रकार होती रहती हैं, किन्तु विशेष परिस्थिति में वह अपनी समस्याओं को हल करने की क्षमता रखता है। जिसका मस्तिष्क जितना विकसित होगा उतना ही विशेष परिस्थितियों का वह सामना कर सकेगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि बालक को अधिक से अधिक प्रत्यक्ष परिस्थितियों और समस्याओं का अवसर दिया जाय जिससे उसका मस्तिष्क अभ्यासी बन जाय। कृत्रिम समस्याएँ उत्पन्न करके प्रस्तुत करने में न तो बालकों की रुचि रहती है, न व्यावहारिकता और न प्रत्यक्ष अनुभव ही रहता है। इसके लिए तो यह आवश्यक है कि स्वाभाविक रूप से ही ऐसे अवसर मिलते जांय। बालकों की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग द्वारा मस्तिष्क को चैतन्य तथा ज्ञान को सचेत करने के ही लिए बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी और मूलोद्योग को ज्ञान का वाहन या साधन बनाया गया है। इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह व्यावहारिक होगा।

तीसरी विशेषता मनुष्य के बालक का लम्बा बचपन है। दूसरे जानवरों के बालक कुछ ही समय में या कुछ ही दिनों में उन सब क्रियाओं को सीख लेते हैं जिनकी आवश्यकता कि उस जाति के बड़े जानवर को पड़ती है। उनके जीवन की गिनी चुनी क्रियाएँ और समस्याएँ हैं। मनुष्य के बालक के साथ यह भिन्नता है उसके जीवन के सामने असंख्य अज्ञात समस्याएँ खड़ी हैं जो जीवन के न जाने किस चरण में उपस्थित हो सकती हैं। इस भावी जीवन की समस्याओं को सामना करने की क्षमता देना शिक्षा का काम है।

इसीलिए शिक्षा का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी भी माना गया है। अपने समय की परिस्थिति व वातावरण के अनुकूल बनाए रहना भी शिक्षा का उद्देश्य माना गया है। यही कारण है कि मनुष्य का लम्बा बचपन इसी तैयारी की दृष्टि से प्राप्त हुआ है। इस तैयारी का समय यही बुनियादी अवस्था और जीवन से सम्बन्धित यही बुनियादी शिक्षा है। प्रश्न होता है क्या लम्बा बचपन ही पर्याप्त है। लम्बे बचपन में साधना का जीवन आवश्यक है जहाँ अधिक से अधिक व्यावहारिक ज्ञान के अवसर मिल सकें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर आज की शिक्षा में सामाजिक जीवन का समावेश किया गया है। पाठशालाऐं सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। समाज का छोटा रूप है। शिक्षा के साधन हमारी सामाजिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। पाठशाला, घर और समाज की बीच की रेखाऐं क्षीण होती जारही हैं। पाठशालाओं का वातावरण अधिकाधिक घर और समाज के समीप होता जारहा है।

अतः शिक्षा की नवीन पद्धतियाँ जिनमें इन विचारों का समावेश है सर्वथा सर्व मान्य सिद्धान्तों के अनुकूल ही हैं। बुनियादी शिक्षा में इनका कहाँ तक समावेश है स्वयं अनुभव की वस्तु है।

३

सभ्यता के विकास का क्रम

मानवी इतिहास के आरम्भ काल से ही मनुष्य अन्य जीव-धारियों की भांति प्रकृति से घिरा था। आवश्यकता पूर्ति की इच्छा से प्रेरित हो उसने स्वयं प्रकृति की वस्तुओं की देख-भाल शुरू की और निरीक्षण-परीक्षण के पश्चात् उनको प्रयोग में लाकर उसने प्रकृति का पूरा अध्ययन किया। इस प्रकार उसने अपने हाथों और मस्तिष्क को काम में लाकर प्रकृति पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया। धीरे-धीरे उसने प्रकृति के संचालन के सब नियमों का परिचय अपने स्वयं अनुभव द्वारा प्राप्त कर लिया और इस प्रकार उसने विज्ञान की ओर कदम बढ़ाया और इसी विज्ञान ने उसे आगे चल कर दार्शनिक बना दिया। इस वाह्य उन्नति के साथ उसकी दृष्टि अब अन्तर्जगत पर पड़ी और उसने देखा कि अन्तर्जगत का वाह्य जगत् से एक घनिष्ठ सम्बन्ध है तो इसी आधार पर मनोविज्ञान की नींव पड़ी। इस विशाल प्रकृति पर विजय पाने के प्रयत्न में सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसी आवश्यकता के फलस्वरूप समाज-शास्त्र और राजनीति का जन्म हुआ और मनुष्य के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की रचना हुई। इस तरह हमारी सभ्यता की और हमारे ज्ञान की नींव पड़ी। यही हमारी शिक्षा तथा सभ्यता के विकास का स्वाभाविक क्रम रहा है। किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों ज्ञान असली जीवन से दूर होता गया। अतएव शिक्षा-सुधार में यह पहिली आवश्यकता

है कि शिक्षा क्रम को इस स्वाभाविक शिक्षा के ढांचे में ढाला जाय और मनुष्य को फिर से प्रकृति की ओर ले जाकर वस्तुओं के असली रूप का दर्शन करा कर ज्ञान को सजीव बनाया जाय।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार संसार रूप तथा नाम का बना हुआ है। प्रत्येक वस्तु का रूप पहिले आता है और नाम पीछे। जब तक स्थूल वस्तुएँ न होंगी तब तक क्रियायें न होंगी। नाम अर्थात् शब्द वस्तुओं के साथ जोड़ने के लिये होते हैं न कि वस्तुएँ उनके साथ जोड़ी जांय। बालक नित्य प्रति देखकर ही व सुनकर ही उन वस्तुओं के नाम लेने लगता है। लेकिन शिक्षा-क्षेत्र में यह स्वाभाविक क्रम तोड़ दिया गया है और शब्दों को स्थान पहिले दे रखा है, असली जीवन को पीछे। मनुष्य की शिक्षा, वह किसी भी शास्त्र की क्यों न हो, मोटे-मोटे अनुभवों और देख-भाल से ही मिली है। अतएव नई तालीम हमको स्वाभाविक क्रम की ओर ले जाती है जिसमें बालक पहिले काम करना, फिर बोलना-पढ़ना और सबसे अन्त में लिखना सीखते हैं।

मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार की शिक्षा बढ़ते हुए बालक को उपयोगी भी है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने आन्तरिक प्रदर्शन तथा विकास के लिये शारीरिक क्रिया चाहती हैं, क्योंकि उसके मस्तिष्क को शारीरिक क्रिया द्वारा ही चेतना प्राप्त होती है। सामान्य पाठशालाओं में हम देखते हैं कि इस क्रियाशील प्रवृत्ति का उचित उपयोग नहीं होता है। जिसके फल-स्वरूप वह विध्वंसकारी हो जाती है और चीज़ों के तोड़-फोड़ और अन्य कुचालों के रूप में प्रदर्शित होती है। यही क्रियाशील प्रवृत्ति उपयोग में लाई जाकर उनकी शिक्षा और विकास का साधन बन सकती है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का संतुलित विकास होकर मानव का सर्वाङ्गीण विकास होगा जिससे उनकी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ सचेत होंगी और उनकी कल्पना, खोज और अन्वेषण की शक्ति जागृत होगी। समाज के निकट सम्पर्क में आने से उनका

नैतिक स्तर भी ऊँचा उठेगा। इससे आज की सभ्यता का बहुत बड़ा दोष दूर हो सकेगा, जिसमें शारीरिक विकास के अनुपात से मनुष्य का नैतिक-विकास नहीं हो सका है, जो आज की दुनियां की हिंसात्मक नीति का कारण है।

ज्ञान सदा से ही इस प्रकार देख-भाल और अनुभव द्वारा प्राप्त होता है। ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म की ओर, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर विभिन्नता से एकता की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सरल से कठिन की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर, बाह्य से आन्तरिक की ओर चलकर व्यावहारिक से सैद्धान्तिक बनता है। किन्तु ऐसा होने पर भी अनुभव की कसौटी सदा पास रखनी पड़ती है। इस-लिये सृजन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना बालक की मनोवृत्ति के अनुकूल है। गांधीजी ने जिस पद्धति की सिफारिश की है वह वैज्ञानिक है। इसका अर्थ है प्रयोगों द्वारा सत्य की खोज। यह उनके स्वयं के जीवन का मूलमन्त्र रहा है।

शिक्षा-प्रणाली को जितनी हानि अवैज्ञानिक पद्धति से पहुँचती है उससे भी कहीं अधिक गलत आदर्शों से पहुँचती है। विदेशी शासन-सत्ता को सस्ते मुंशी और अफसर तैयार करने थे। लार्ड मैकाले के शब्दों में उसका उद्देश्य था कि एक नई नस्ल पैदा हो जाय जो यदि हिन्दुस्तानी भी हो तो केवल अपने रंग रूप की वजह से, उनके विचार और संस्कृति किसी भी अंश में भारतीय न रहें। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय केवल बाह्य रूप से ही अंग्रेज बन सके और दूसरी तरफ अपनी परम्परा गत सभ्यता व संस्कृति से भी हाथ धो बैठे। इस शिक्षा ने शिक्षित हिन्दुस्तानी को जन-साधारण से अलग कर दिया। शिक्षित और अशिक्षित के बीच एक गहरी खाई बन गई। इसलिये शिक्षा-प्रणाली को जहाँ बदलने की जरूरत है वहाँ उसे समयानुकूल और उचित आदर्शों वाली बनाने की और भी अधिक आवश्यकता है।

वास्तविक आदर्श है समाज को शोषण से मुक्त करना और मनुष्य में बराबरी और न्याय के भाव पैदा करना। शिक्षा का उद्देश्य असभ्य आदमी को आचार-शील और आध्यात्मिक आदमी बनाकर उसे ऐसे ही गुण वाले समाज का अंग बनाना है। वह उसे व्यक्ति से एक समाज का अंग बना दे जिससे उसके और समाज के बीच एक मैत्री भाव स्थापित होकर सुदृढ़ समाज की रचना हो।

मानव का इतिहास संघर्ष, हिंसा और संग्राम से आरम्भ होता है। जिसके फल-स्वरूप उसने अपने आपको दलों, परिवारों और जातियों में बांट लिया और वर्णों, वर्ग, देश, तथा राष्ट्रों की उत्पत्ति हुई। इस समाज में भी न्याय, समानता स्वतंत्रता तथा संगठन का अभाव रहा। अतएव उस समाज में से कुछ कुशाग्र बुद्धि, उच्च आदर्शों वाले महापुरुषों ने उच्चतर व्यवस्था की प्रेरणा अनुभव करके दया, उदारता, न्याय और प्रेम के आदर्शों पर समाज की रचना करनी चाही। वह अपने आपको सारे मनुष्य-समाज में एक कर देना चाहते थे। बुद्ध भगवान् का कथन था "इस संसार में जब तक एक भी आत्मा ऐसी रहे जाय जिसको निर्वाण न प्राप्त हुआ हो तो मैं बार २ जन्म लेता रहूँ" समष्टि के हित में व्यष्टि के कैसे उच्चतम आदर्शों की भावना है। ऐसे महान् त्यागियों और तपस्वियों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् भी समाज में अत्याचार, असमानता तथा अन्याय चलता रहा और इससे तंग आकर लोकतन्त्र की स्थापना हुई जिसमें मनुष्य को स्वतन्त्रता मिली और उत्तरदायित्व का भी आभास हुआ। इससे कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र व्यावहारिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सत्ता का एक अंश होता है। किन्तु यूरुप की औद्योगिक क्रान्ति ने इस पर भी पानी फेर दिया। उधर मार्क्सवाद की दृष्टि में व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों का बना हुआ पुतला माना जाने लगा। जिसमें वह सामाजिक मशीन का एक पुर्जा है। समाज के बाहर उसकी कोई हस्ती ही नहीं है। नाज़ी-

वाद ने भी राष्ट्रीय तथा जातीय यन्त्र का मनुष्य को पुतला समझा और इन सिद्धान्तों के नीचे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ, जिसमें उसके स्वतन्त्रत जीवन और इच्छा-शक्ति तथा स्वयं प्रेरणा का कोई स्थान ही न रहा।

ऐसी दशा में लोकतन्त्र एक राजनैतिक सुविधा ही नहीं है, वरन् एक महान् आचार शील और आध्यात्मिक सिद्धान्त है, जिसमे स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव व समानता जीवन के अंग बन जाते हैं। मनुष्य की स्वयं की एक आध्यात्मिक सत्ता है और समय आने पर वह अपनी इस आध्यात्मिक शोभा का परिचय देगा। हमारा आन्तरिक और बाह्य, व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अहिंसा, सत्य और न्याय के आधार पर प्रतिष्ठित होना चाहिये। ऐसा तभी हो सकता है जब हमारे राजनीतिक और सामाजिक व्यवहारों के साधन भी उतने ही ऊँचे हों जितना ऊँचा लक्ष्य है।

गांधीजी जीवन की सादगी को कायम रखना चाहते थे। वह यह मानते थे कि मनुष्य जितना अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता जायगा, उद्योगों को जितना केन्द्रीभूत करता जायगा, उतना ही वह उलझनों में फंसता जायगा। उसका सांसारिक जीवन इतना जटिल हो जायगा कि वह सिर तक भी नहीं उठा सकेगा। इसीलिये वह ग्रामोद्योगों और घरेलू धन्धों द्वारा विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। उसके द्वारा व्यक्ति को स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द रखकर अलग अलग क्षेत्रों में अपनी राह चुनने का अवसर मिलता है। इसमें वह अपनी इच्छा-शक्ति का पूरा उपयोग कर सकता है। वह व्यक्ति को स्वतन्त्र विचार रखने और उनको प्रकट करने की स्वतन्त्रता देता है। व्यक्तित्व का ह्रास होने पर सांसारिक वैभव कोई भी महत्व नहीं रखते हैं। गांधीजी राजनीति और अर्थशास्त्र को भी आध्यात्मिक रंग देना चाहते थे। वह राजनीतिक लोकतन्त्र और आर्थिक समाजवाद दोनों के आधार-भूत मानव-समता के विराट सिद्धान्त को जीवन में

प्रत्यक्ष करना चाहते थे जिससे आचार-शील समाज में आचार-शील मानव की प्रतिष्टा हो सके।

यह शिक्षा तथा सभ्यता के विकास-क्रम का संक्षिप्त इतिहास है जिसके आधारभूत सिद्धान्तों पर शिक्षा पद्धति की सुनिश्चित रूपरेखा बनाना है।

४

शिक्षा क्षेत्र में नवीन परिवर्तन

मनोविज्ञान की नवीन खोजों के कारण शिक्षा वैज्ञानिकों के शिक्षा सम्बन्धी विचारों में महान परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा की विचारधारा की रूपरेखा में ही आमूल परिवर्तन हुआ है और अनेक नयी-नयी बातें शिक्षा क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान पा चुकी हैं जिनके उद्भव के कारण बालकों की शिक्षा मे मौलिक हेरफेर की आवश्यकता पड़ गई है। इन्हीं के आधार पर अनेक-अनेक प्रयोग किये जारहे हैं और अनेक पद्धतियों का जन्म हो रहा है। एक विचार-धारा जिसकी ओर प्रायः सब ही का लक्ष है संक्षिप्त रूप मे यहाँ दी जारही है।

जहाँ तक शिक्षा संसार का सम्बन्ध है आज का युग 'बालक का युग' कहलाता है। एक समय इतिहास मे जैसे मनुष्य के अधिकारों का बोलबाला हुआ उसी प्रकार रूसो ने शिक्षा के क्षेत्र मे 'बच्चे के अधिकारों' की भी दुंदभी बजा दी। आज के शिक्षा वैज्ञानिक इस बात मे सहमत है कि बालक ही शिक्षा का केन्द्र होना चाहिये। पूरे कक्षा के शिक्षण में जब कि कक्षा ही शिक्षा की इकाई समझा जाता था बालक का व्यक्तित्व उपेक्षित था और उसकी मूल प्रवृत्तियों, व रुचि के विरुद्ध उसे एक ही प्रकार के साँचे मे ढालने का प्रयत्न किया जाता था किन्तु आज के विचारों ने इस धारणा में आमूल परिवर्तन कर दिया है। अब बच्चे को मनुष्य का एक लघु रूप मात्र ही नहीं माना जाता है और इसी विचार के आधार पर

उसकी आवश्यकताएँ मनुष्य की आवश्यकताओं से भिन्न समझी जाती है। सदा से ही शिक्षा से सम्बन्धित तीन ही केन्द्र रहते आये हैं शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा का विषय। घड़ी के लटकन की तरह कभी शिक्षक की प्रधानता रही तो कभी शिक्षा के विषय की किन्तु इस युग की विचार-धारा ने पलटा खाया और बालक की प्रधानता ही शिक्षा का सार्वभौम सिद्धान्त बन गया। रूसो की भाषा में 'बालक ही एक पुस्तक है जिसका अध्ययन शिक्षक को करना चाहिये' इसी विचार का प्रतिपादक है। इसी प्रकार पेस्टॉलाजी का भी कथन है कि 'बालक का मस्तिष्क ही शिक्षक को सर्व प्रथम अध्ययन की वस्तु है।' यह भी उसी विचार को पुष्ट करता है। अतएव आज की विचारधारा में यह मूल परिवर्तन है कि बालक के व्यक्तिगत विकास की ओर ध्यान दिया जाय। उसकी व्यक्तिगत विशेषताऐं और उसी के अनुसार आवश्यकताएँ भी हैं जिनकी पूर्ति के साधन भी उसकी रुचि एवं प्रवृत्तियों के अनुकूल ही होना चाहिये। अत:कक्षा के शिक्षण के स्थान पर व्यक्तिगत शिक्षण ने स्थान पाया है।

शिक्षा के उद्देश्य ने भी आजीविका कमाना, ज्ञान, संस्कृति, नैतिकता समाजोन्नति आदि की अनेक श्रेणियों में विचरण कर जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तक के अन्य पृष्ठों में किया गया है आज "मानव का सम्पूर्ण संतुलित विकास ही" शिक्षा का स्थिर ध्येय हुआ है। इसी को सम्पूर्ण बालक की शिक्षा भी कहते हैं जिसमें शारीरिक, मानसिक और नैतिक उन्नति का संतुलन होकर मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण हो।

इसी सिद्धान्त के आधार पर हाथ, मन तथा मस्तिष्क की शिक्षा का सम्बन्ध जोड़ा गया है। हाथ के द्वारा ही मस्तिष्क में ज्ञान का अखण्ड भण्डार संचित होता है। हाथ के द्वारा ही मस्तिष्क की शिक्षा होती है। यदि हाथ और मन साथ-साथ काम करें तब ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है। भावना से किया हुआ काम

ही ज्ञान में स्निग्धता लाता है। जैसे संतुलित भोजन स्वस्थ शरीर को आवश्यक है उसी प्रकार हाथ की, मन की और मस्तिष्क की शिक्षा में सम्बन्ध और संतुलन आवश्यक है। केवल एक ही प्रकार की उन्नति से सम्पूर्ण मानव का निर्माण न होगा। अतएव आज की शिक्षा में उद्योग द्वारा शिक्षा को प्रधानता दी गई है। मनुष्य अपनी आवश्यकता पूर्ति के हेतु प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण से सम्बन्ध जोड़कर शारीरिक उन्नति के साथ-साथ मानसिक और नैतिक उन्नति भी करता है। अतः आज की शिक्षा का ध्येय भी सम्पूर्ण बालक की शिक्षा ही माना गया है।

बालकों की शिक्षा में घर, वातावरण और समाज का पूरा ध्यान रखा जाने लगा है। पाठशालाओं का संगठन और उनमें कार्य का निर्माण भी इसी आधार पर होता है। पाठशाला संगठन, पाठन वस्तु, पाठन पद्धति और पाठ्य क्रम में भी तदनुसार परिवर्तन पाए जाते हैं। पाठशाला समाज का एक लघु रूप है जहाँ हमारा सामाजिक जीवन प्रतिबिंबित होना चाहिये। हमारी शिक्षा के साधन भी हमारी सामाजिक प्रवृत्तियाँ ही हों। पाठशाला सामाजिक जीवन से पृथक न हो। यदि मनुष्य को समाज का उपयोगी प्राणी बनाना है तो उसकी शिक्षा इस प्रकार की सामाजिक शिक्षा से भिन्न नहीं हो सकती है। उपर्युक्त उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ही पाठशाला संगठन में घर, वातावरण और समाज का पूरा ध्यान रखने की आवश्यकता आज के शिक्षा शास्त्रियों ने अनुभव की है।

जहाँ शिक्षा का सम्बन्ध समाज से जोड़ा वहाँ शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग तथा सहकारिता की भावना का होना अनिवार्य सा ही हो जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है उसका विकास एकान्त के निर्जन स्थान मे नहीं हो सकता है। मनुष्य से समाज बनता है। मनुष्य के विकास के साथ समाज का विकास होता है और विक-

सित समाज में ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। अतएव मनुष्य समाज को और समाज मनुष्य को उन्नत अथवा अवनत कर सकता है इनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े विना नहीं रहता है। दार्शनिक विचारों से समीष्टि व्यष्टि का ही वृहद् रूप है। समाज मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो व्यक्ति में न हो। व्यक्ति में भी उसी प्रकार कोई वस्तु नहीं है जो समाज की देन न हो। अतः व्यक्ति और समष्टि में अथवा व्यक्ति और समाज में एक आत्मिक सम्बन्ध है इसीलिये व्यक्ति में व्यक्ति के हित की तथा समाज के हित की दोनों ही भावनायें विद्यमान रहती हैं। शिक्षा क्षेत्र में समाजहित की भावना का विकास न होने से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है। एक अच्छे समाज का निर्माण होने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य में उसके सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही उसमें सहयोगी भावना का उदय हो और अभ्यास से वह परिपुष्ट की जावे। मनुष्य को यदि कोईसवसे बड़ी सामाजिक बात सीखना है तो वह है "साथ में रहने का विज्ञान।" सहयोग इसका मूल मंत्र है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग की शिक्षा को कैसे भुलाया जा सकता है। इसी उद्देश्य से आज की पाठशालाओं का संगठन स्वयं संचालित प्रणाली के आधार पर किया जाता है। वालक अपने अधिकारों और कर्तव्यों को भली प्रकार सीखकर अपने विद्यार्थी जीवन मे ही कार्यरूप मे परिणित करते हैं और अपने अभ्यास द्वारा भावी जीवन के लिये जीवन का एक अंग वना लेते हैं। अतएव पाठशाला संगठन में इस सहयोगी भावना की शिक्षा को भी अधिकाधिक स्थान दिया जारहा है।

इस प्रकार का संगठन वालकों में अनुशासन की समस्या को भी हल करता है। वाहर से लादा गया अनुशासन स्थायी नहीं होता है। दण्ड का समावेश शिक्षक की आयोग्यता का ही परिचायक है। शिक्षक एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर देता है जिससे वालक स्वयं प्रभावित हो अपने कार्य में रुचि रखने लगते

हैं और अपने ही नियमों का निर्माण करते हैं। बालक स्वयं के ही बनाये हुए नियमों में बंधकर नीति के प्रति आदर करना सीख जाते हैं और इसीलिये स्वतन्त्र अनुशासन की वृद्धि को शिक्षा का एक प्रमुख अंग माना गया है। स्वतंत्र देश के बालकों को स्वतंत्र नागरिक बनाने के लिये उनके शिक्षा क्षेत्र में भी स्वतंत्रता की ही आवश्यकता है और आज का युग "बालक की स्वतंत्रता" का युग है अतः स्वतंत्र अनुशासन की पद्धति का शिक्षा क्षेत्र में सम्मान होना स्वाभाविक ही है। शिक्षा में स्वावलम्बन भी आज का एक नया ही परिवर्तन है। शिक्षा का उद्देश्य जब सम्पूर्ण मनुष्य बनाना मान लिया गया तब शिक्षा दीक्षा के पश्चात् मनुष्य को परमुखापेक्षी रहने से उसके ध्येय की पूर्ति नहीं होती है। अत आज की शिक्षा की जाँच की कसौटी यह भी मानी गई कि बालक क्या तो उनके दैनिक जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों में और क्या जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में दूसरों पर आश्रित न रहे। स्वतंत्र समाज का निर्माण स्वतंत्र प्राणियों से ही होता है। सहयोग परतंत्रता की श्रेणी में नहीं आता वह तो पारस्परिक प्रेम का सौदा है। जो शिक्षा मनुष्य को मनुष्य से दूर करे. एक को दूसरे के आधीन रखे, एक मनुष्य में दूसरे को हीन समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे वह एक स्वस्थ, उन्नत न्याय पूर्ण समाज का निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ है। इन सब दोषों के निवारण का एक साधन स्वावलम्बन है जिसका समावेश आज के शिक्षा वैज्ञानिकों ने शिक्षा क्षेत्र में किया है। जिसके आधार पर स्वावलम्बी, स्वाश्रयी समाज का निर्माण होना सम्भव है।

शिक्षा द्वारा समता की भावना प्रसारित करना भी आज की शिक्षा का उद्देश्य माना गया है। आज के वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार के दूर-दूर देशों का सम्बन्ध आपस में जोड़कर उनको एक दूसरे के समीप कर दिया है। इसीलिये एक देश दूसरे की परि-

स्थिति से प्रभावित हुये विना नहीं रहता है। संसार को सुखी और समृद्धिशाली वनाने के लिये यह आवश्यक है कि समस्त संसार के मानव समाज में समानता की भावना जागृत हो जिससे उनमें सहयोग के द्वारा एक दूसरे के हित चिन्तन की सद्भावना का उदय हो। जैसे एक एक व्यक्ति के हित अनहित में एक देश का हित अनहित निहित है उसी प्रकार एक देश के हित अनहित का प्रभाव संसार के दूसरे देशों पर पड़े विना नहीं रह सकता। आज संसार का एक देश दूसरे देश को हेय और हीन न समझे और उसके द्वारा शोषण के स्थान पर सहयोगी भावना का प्रसार हो तो समस्त संसार स्वर्ग के सुख का अनुभव कर सकता है। इसकी मूल कुञ्जी है शिक्षा में समानता की भावना। पाठशाला संगठन में इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु वारी-वारी से प्रत्येक बालक को प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था में भाग लेने का अवसर दिया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ही दृष्टि में रखते हुए वुनियादी शिक्षा में वालकों की शिक्षा का मूलाधार उद्योग रखा गया है। शिक्षा के समस्त विषयों की रचना इसी के चारों ओर की गई है। वालक उद्योग के लिये आवश्यक सामान प्रकृति से प्राप्त करके उसको समाजोपयोगी वनाते हैं जिसमें उनको प्रकृति और समाज दोनों ही के निरीक्षण, परीक्षण और अनुभव का अवसर मिलता है। उनकी शिक्षा व्यावहारिक होने के कारण वह एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आकर सहकारिता की शिक्षा का पाठ सीखते हैं और अपने कर्तव्यों, अधिकारों और उत्तरदायित्व को समझने लगते हैं। उनको जीवन की वास्तविक समस्याओं के हल करने का स्वयं अनुभव प्राप्त होता है और वे अपने समाज के स्वावलम्वी क्रियाशील अंग वन जाते हैं। स्वयं प्रेरित एवं स्वयं संचालित संगठन में अनुशासन उनके जीवन का एक अंग ही वन जाता है। प्रत्येक ज्ञान

उनकी जीवन की क्रियाओं से तथा उद्योग की क्रियाओं से जुड़ा रहता है और उनको इस समवाय तथा समन्वय की पद्धति द्वारा ज्ञान अखण्ड रूप में प्राप्त होता है।

अतएव बुनियादी शिक्षा की पद्धति का आधार पूर्णरूप से सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर वैज्ञानिक है।

५

शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता क्यों ?

मनुष्य का जैसे जैसे विकास होता रहता है उसीके अनुसार समाज में परिवर्तन भी होता रहता है। मनुष्य से समाज और समाज से मनुष्य है। शिक्षा का सर्वमान्य उद्देश्य मनुष्य को समाज के योग्य बनाये रखना है। अतएव समाज की सभ्यता तथा संस्कृति के आधार पर शिक्षा के दृष्टिकोण में भी हेर-फेर होता रहता है। यदि शिक्षा में समयानुसार सुधार नहीं किये गये तो वह उस समय के समाज के उपयुक्त न रह कर निर्जीव हो जाती है। इसीलिए शिक्षा-प्रणाली के दोषों पर विचार करते हुए उनके निवारण के लिए शिक्षा-पद्धति में सुधार किये जाते हैं। बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा बनाते समय आज की शिक्षा के इन दोषों पर विचार किया गया है।

आज जबकि हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में बड़ी तेजी के साथ और दूर तक असर पैदा करने वाले हेर-फेर हो रहे हैं, और नागरिकों के सामने नये-नये सवाल आ रहे हैं तब शिक्षा जीवन की असली धारा से अलग रहकर अपने पुराने ढर्रे पर लड़-खड़ाती चली जा रही है। अपने को बदले हुए जमाने के अनुकूल नहीं बना पा रही है। इस पर न तो देश की मौजूदा सच्ची हालत का कोई असर होता है, न इसके सामने कोई ऐसा आदर्श ही है जो देश में जान डाल देने और नवीन शक्ति संचार के साथ नवनिर्माण की शक्ति रखता हो। यह न तो मनुष्य को समाज का उपयोगी

और उत्पादक अंग ही बनाती है, न अपने पैरों पर खुद खड़ा होना, और न समाज के काम में पूरी तरह हिस्सा लेना सिखाती है। मौजूदा समाज लूट-खसोट, छीना-झपटी और मारपीट की हिंसात्मक नीति पर खड़ा है। परन्तु समाज को ऐसा होना चाहिये जिसमें सब लोग हिलमिल कर एक दूसरे के साथ काम करते हुए रह सकें। इस नये समाज के निर्माण में सहायता पहुँचाना शिक्षा का काम है। परन्तु वर्तमान शिक्षा के सामने इसकी कल्पना तक भी नहीं है। इसलिये आजकल चारों ओर यह पुकार है कि शिक्षा के इस तरीके को बदल कर ऐसा तरीका निकाला जाय जिसमें नई रचना करने की शक्ति हो और जिसकी नींव मनुष्यों की हमदर्दी और भलाई पर हो, जो राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों और आवश्यकताओं के अनुकूल हो। इसलिये नई तालीम का उद्देश्य बच्चों को स्वस्थ, सुखी और समाज-सेवी नागरिक बनाना है जिससे वे अपने भविष्य के जीवन में अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझ कर काम में ला सकें।

आजकल हर समझदार आदमी का अपने समाज का कामकाजी अंग होना चाहिये जिससे जिस संगठित समाज में वह रहता है उसके ऋण को कोई उपयोगी काम करके चुका सके। जो शिक्षा निरन्तर दूसरों पर बोझा बनने वाले निकम्मे आदमी पैदा कर रही है वह कैसे उपयोगी हो सकती है? ऐसी शिक्षा न केवल समाज का काम करने और पैदा करने की ही ताकत को नुकसान पहुँचाती है बल्कि लोगों में नचकर अनैतिक मनोवृत्ति पैदा करती है जो बुद्धिजीवी और श्रम-जीवियों के बीच भेदभाव की एक बड़ी दीवार खड़ी करती है। अतएव नई तालीम लोगों में मेहनत तथा परिश्रम के प्रति सम्मान उत्पन्न करेगी, जिससे कोई भी आदमी किसी छोटे से छोटे काम को भी हेय नहीं समझेगा। उसके सामने यह लक्ष्य होगा कि कोई भी शारीरिक श्रम करने वाला न केवल मजदूरी का

ही अधिकारी है वल्कि सम्मान का भी। इस प्रकार सम्मान के साथ उनमें अपने पैरों पर खड़े होने की भी शक्ति आयगी।

वर्तमान शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षण-पद्धति तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दोषपूर्ण है। इसमें सारा ज़ोर किताबी पढ़ाई पर ही डाला जाता है, और उनके द्वारा दूसरे के अनुभवों, कल्पनाओं और तर्कों को रटा कर निगलने की रीति ही प्रचलित है। इसमें मानव जीवन की तथा उसकी उस समय की परिस्थितियों का कोई भी ध्यान नही रखा जाता है। इस तरह की शिक्षा अपूर्ण है और वास्तविक जीवन से दूर है। इसको संकुचित रूप में मस्तिष्क की शिक्षा मान लिया गया है। वह पदार्थों के प्रतीक मात्र का शाब्दिक तथा मौखिक ज्ञान देती है, जिसका उनको कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इसमें वास्तविक घटनाओं और व्यावहारिक ज्ञान को कोई स्थान नहीं है। उसमें निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग द्वारा स्वयं के अनुभव की कमी है, जोकि मनुष्य जाति की क्रमिक शिक्षा के स्वाभाविक अंग रहे हैं। वह कमरों में वन्द करके ताज़ी हवा, प्रकाश और धूप से वंचित रखती है। वालक प्रकृति के सौन्दर्य और आनन्द से भी दूर रहते हैं और प्रकृति तथा समाज दोनों ही क्षेत्रों से उदासीन हो जाते हैं।

व्यावहारिक ज्ञान भी जो उनको मिलता है वह ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्वन्धित न होने के कारण उसका एकीकरण नहीं होने पाता; जिससे वह अखण्ड रूप में प्राप्त हो और उसके द्वारा मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास हो। शिक्षा के विभिन्न विषय, जिनका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्वन्ध है, पृथक् पृथक् कोष्ठों में वन्द करके एक दूसरे से अलग रखे जाते हैं। इसीलिये जीवन में भी एकता नहीं आने पाती। इससे न तो वालक की इच्छा-शक्ति प्रवल होती है और न उसका विकास ही हो पाता है। फलस्वरूप समाज ऐसे प्राणियों से निर्मित होता है, जो अपने प्रत्यक्ष जीवन में असफल तथा निराश रहते हैं।

आजकल की शिक्षा मे केवल बालकों के मानसिक विकास की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है और उसमे नैतिकता तथा आध्यात्मिकता की कमी रहती है। यद्यपि मनुष्य भौतिक बल में पशु समुदाय से पिछड़ा हुआ है किन्तु उसकी कमी उसने अपने बुद्धि-बल से पूरी करके प्रकृति तथा अन्य जीवधारियों पर विजय प्राप्त करली है। उसने अपने नवीन अनुसन्धानों तथा आविष्कारों द्वारा विश्व को चकित कर दिया है किन्तु यह सब होते हुए भी ये साधन मनुष्य जाति को नष्ट करने के ही काम मे लाये जा रहे हैं, जोकि सुख और समृद्धि का कारण बन सकते थे। इसका एकमात्र उत्तर यही है कि मनुष्य की भौतिक उन्नति उसके आध्यात्मिक उन्नति के अनुपात से नहीं हुई, अर्थात् उसके व्यक्तित्व मे संतुलन नहीं हुआ। इसीके फलस्वरूप समाज मे और उसकी विचार-धारा में संतुलन नहीं है, और यही विश्व मे मानव-जाति की अशान्ति का अब भी कारण बना हुआ है। यद्यपि जीवन-संग्राम और योग्यता की अवस्थिति विकास के मूल कारण माने गये हैं। परन्तु उन्नति के रक्तहीन साधन ही उसे पशु-समाज से ऊँचा उठाये हुए हैं। इसीलिये मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात में ही होना चाहिए।

आज की शिक्षा में मौलिकता के अभाव का कारण भारतीय विद्यार्थियों के मस्तिष्क की कमी नहीं है, वरन् इसके लिये शिक्षा-पद्धति ही उत्तरदायिनी है। इसका एक कारण तो हमारी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा का न होना है, और दूसरा यह कि आजकल के पाठ्य विषय केवल मानसिक व्यायाम ही रहते हैं। उनमे न तो व्यावहारिकता पाई जाती है और न उपयोगिता। न वे रुचिकर ही बन पाते हैं। मातृभाषा का माध्यम न होने के कारण परिश्रम तो अधिक पड़ता ही है किन्तु शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान हमारे मानसिक संस्थान का अंग नहीं बन पाता, और विचारों और भाषा का

अस्वाभाविक विच्छेद होकर ज्ञान और क्रिया में भी विच्छेद हो जाता है।

वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष बहुव्यय साध्य होना है। उसने हमारे रहन-सहन को ऊँचा कर दिया है, किन्तु उसी के साथ धनोपार्जन करने की शक्ति उत्पन्न न कर हमको परावलम्बी बना दिया है। शिक्षा ने बहुव्यय साध्य होने के कारण उसके लाभ को केवल थोड़े से धनवानों के अधिकार में ही कर दिया है। जिसके कारण समाज की रचना, कुछ को प्राप्य और कुछ को अप्राप्य की अनैतिक नींव पर हुई है। जिस देश तथा समाज की रचना जनतंत्र-प्रणाली पर न्याय, बन्धुत्व, समानता तथा स्वतन्त्रता की नीति पर होने वाली हो, उसमें हवा और पानी की तरह शिक्षा भी सबको समान रूप से मिलनी चाहिये। शिक्षा की पद्धति के निर्माण में यह विचार आवश्यक है कि भारतवर्ष विशेषतया ग्रामों का खेतिहर देश है। इसलिये वही पद्धति उपयोगी हो सकती है जिसमें कम से कम खर्च हो और समानता से ग्रामीण जनता की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जा सके।

शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि शिक्षा की रूप-रेखा विदेशीय शासन के अधीन होने के कारण केवल उनकी शासकीय आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र तक ही सीमित रही। उसमें न तो उपयोगिता की और न राष्ट्रीय आवश्यकता की दृष्टि थी। इसने हमें सांस्कृतिक जीवन दृष्टि से दूर कर दिया और हम अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से घृणा करने लगे जिसने समाज की समृद्धि और सुख का अपहरण कर लिया।

इन विचारों से ही प्रेरित हो इस नवीन शिक्षा-पद्धति को राष्ट्रपिता बापू ने जन्म दिया।



६

बुनियादी शिक्षा की पृष्ठ भूमि

बापू की राष्ट्रीय योजनाओं में बुनियादी शिक्षा सब से अन्तिम और सब से क्रान्तिकारी योजना है। बापू किसी राष्ट्र को बनाने का साधन शिक्षा ही समझते थे। देश और समाज को किसी एक निश्चित दिशा में संगठित करने के उद्देश्य से ही शिक्षा पद्धतियां बनती हैं। अतः शिक्षा की इस नई योजना की रूपरेखा समझने के लिये यह आवश्यक है कि इस पद्धति के निर्माता ने किस उद्देश्य और किन विचारों की पृष्ठ भूमि के आधार पर इसको जन्म दिया।

प्रत्येक देश की शिक्षा योजना के पीछे निश्चित रूप से वहाँ की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था रही है। विदेशी शासन काल में शिक्षा पद्धति ने देश के प्राचीन ग्राम शिक्षालयों को नष्ट प्रायः करके सारे शिक्षा संगठन को केन्द्रित कर केवल अपने उपयोग मात्र के ही लिये अपने नियन्त्रण में ले लिया। इस तरह की शिक्षा इतनी खर्चीली हो गई कि देश का अधिकांश समाज तो इसके लाभ से ही वंचित रहने लगा। राष्ट्र की जन संख्या को दो भागों में बाँट दिया एक को केवल बुद्धि का काम है और श्रम से उपराम है तो दूसरे को श्रम ही का काम है और बुद्धि से विश्राम है। बुद्धि और श्रम का सम्मेलन ही नहीं होने दिया।

यह तो एक तात्कालिक इतिहास के पृष्ठ को उलटा दिया है। यह समझने को कि गांधीजी समाज में किस प्रकार की व्यवस्था लाना चाहते थे यह जानना होगा कि मनुष्य आदि काल से अपनी

समस्याओं को हल करने के लिये जो प्रयत्न करता रहा है उसका इतिहास कैसा है ?

मानव इतिहास के आदिकाल से ही जब कि कोई सामाजिक संगठन तथा मनुष्य अपने को जीवित रखने की चेष्टा करना ही प्रमुख काम समझता आया है और अपनी स्थिति को कायम रखना ही प्रकृति का सामान्य नियम और प्राणिमात्र की मूल प्रवृत्ति है। जब मनुष्य ने देखा कि अस्तित्व को कायम रखने के इस संग्राम में सब समाज ही नष्ट होता जा रहा है तो उसने सहयोग के आधार पर समाज के संगठन का नया प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रकार समाज संचालन के लिये शक्ति का संग्रह एक ही व्यक्ति में केन्द्रित कर दिया और केन्द्रवाद की जड़ पड़ी।

इस केन्द्र वर्ग या राज वर्ग ने स्वयं श्रम न करके उत्पादन का लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। जिस हिंसा को केन्द्रीय शक्ति द्वारा सीमित करना चाहते थे वही शोषण के रूप में अधिकाधिक फैलने लगी। फलस्वरूप जिस सत्ता को बटोर कर एक ही व्यक्ति को सौंपा था उसको फिर से अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। इसी को राजनीतिक भाषा में लोकतन्त्र की स्थापना कहते हैं। केन्द्र वर्ग ने अपनी रक्षा के लिये सदियों से संचित साधन और शक्ति का लोकतन्त्र को दबाने में उपयोग किया किन्तु प्रजातन्त्र की विजय हुई। इस प्रजातन्त्र की लहर ने आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति करना आरम्भ कर दिया।

इसी समय के वैज्ञानिक युग में वाष्पीय शक्ति का आविष्कार हुआ। इस शक्ति के आविष्कार से केन्द्रवादी वर्ग को अपनी स्थिति को संगठित करने का बड़ा साधन मिल गया। पहिले उत्पादन यन्त्र का मालिक स्वयं दस्तकार था और अपने को स्वतन्त्र रख सकता था। इन विराट वाष्पीय यन्त्रों के आविष्कार ने कारीगर का आर्थिक निःशस्त्रीकरण कर दिया और प्रजातन्त्र की कल्पना निष्फल होगई। जब उत्पादन के तरीके केन्द्रित होगये तो समाज का संग-

ठन भी केन्द्रित ढंग से होने लगा। लोकतन्त्र ने प्रतिनिधि व्यवस्था का रूप धारण किया। उत्पादन यन्त्र से शासन यन्त्र और शासन यन्त्र से उत्पादन यन्त्र वरण दोनों ही उत्पादन और शासन केन्द्रित हो जाने से पूंजीपति ही सत्ताधारी बन गये और प्रजा और भी अधिक शोषित होने लगी। पूंजीवादी व्यवस्था में अन्धाधुन्ध उत्पादन के कारण उपभोग्य सामग्री का अप व्यय होने लगा।

इसी समय जब कि प्रजा पूंजीवाद के आतंक से त्रस्त और शोषित थी तब कार्ल मार्क्स का जन्म हुआ और उसने यह बताया कि शासन यन्त्र और उत्पादन यन्त्र, दोनों पर ही प्रजा की सत्ता कायम होनी चाहिये इसलिये जैसी क्रान्ति पहिले शासन यन्त्र को लेने को की गई थी वैसी ही उत्पादन यन्त्र पर कब्जा करने को भी की गई। कहीं वह सफल हुई कहीं विफल।

आवश्यकता इस बात की समझी गई कि उत्पादन और शासन दोनों ही पर प्रजा का वास्तविक कब्जा हो और केन्द्रीय यन्त्र को विकेन्द्रित करके जनता को सौंप दिया जाय। परन्तु सत्ता का विकेन्द्रीकरण जब तक नहीं हो सकता जब तक यन्त्रों का विकेन्द्रीकरण न हो जाय। यानी शासन और उत्पादन दोनों ही विकेन्द्रित होकर प्रत्यक्ष रूप से प्रजा के हाथ में आने पर ही सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो सकती है। इसका अर्थ यही है कि प्रजा जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था के लिये स्वावलम्बी हो।

हमने देखा कि मनुष्य की आरम्भिक स्वच्छन्दता ने पारस्परिक हिंसा को जन्म दिया जिससे सारा समाज खतरे में पड़ गया। अतः इस अनुशासन हीन स्वच्छन्दता के स्थान पर स्वतन्त्रता ही की आवश्यकता है। इस स्वतन्त्रता की योग्यता के लिये स्वावलम्बी वृत्ति नितान्त आवश्यक है। यह तब ही हो सकता है जब हमारी शिक्षा की पद्धति ऐसी हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त स्वावलम्बन और समाज

व्यवस्था के लिये पर्याप्त योग्यता हो क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु तैयार करना है।

बुनियादी शिक्षा द्वारा बापू ने इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक निश्चित योजना रखी है। उन्होंने सामाजिक वातावरण और प्रकृति परिचय के साथ उद्योग को तालीम का माध्यम बनाया है। उनका कहना था कि स्वावलम्बी समाज की स्थापना ही कल्पना मात्र है जब तक प्रजा स्वयं ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि लोग बचपन से ही कारी-गरी के अभ्यस्त हों और उन्हें उसका शास्त्रीय ज्ञान हो। गांधीजी गृहउद्योग की शिक्षा द्वारा जहाँ प्रजा को भौतिक आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी बनाना चाहते थे, वहीं औद्योगिक प्रक्रिया के माध्यम से उन्हें सुविकसता, जागृति और स्वावलम्बी नागरिक भी बनाना चाहते थे। इस प्रकार औद्योगिक प्रक्रियाओं द्वारा वह उनमें वस्तु का विषय का ज्ञान जोड़कर स्वावलम्बन के साथ सामाजिक और राजनीतिक चेतना भी जागृत रखना चाहते थे। इससे बालकों में समाज की समस्याओं का ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है और उनके हल को ढूँढ़ निकालने की योग्यता प्राप्त होती है।

इस प्रकार शिक्षा की इस योजना द्वारा जनता को स्वावलम्बी, शान्तिमय और अहिंसात्मक तरीकों से स्वयं प्रेरणा और स्वतन्त्र चेष्टा से आगे प्रगति का निरन्तर अवसर मिलता रहता है। यह पद्धति वैज्ञानिक, व्यावहारिक, प्रगतिशील और सुनिश्चित है। इसके द्वारा आत्मविश्वास और सहयोग के संस्कारों का उदय होता है। हिंसात्मक तरीकों से कोई किसी को मिला नहीं सकता है, क्योंकि सम्मेलन तो प्रेम और सहयोग से ही होता है। प्रेम, सहयोग, स्वावलम्बन इस योजना के प्रमुख अंग हैं। जिनके आश्रय से न केवल मनुष्य स्वयं की उन्नति करता है बल्कि सब समाज को साथ में उठाकर चलता है यही सर्वोदयी भावना का रूप है।

७

बुनियादी शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

विदेशी काल में हमारे देश के लिये जिस शिक्षा पद्धति का निर्माण हुआ वह सर्वांगीण और सार्वजनिक नहीं थी। उसमे शिक्षा सम्बन्धी विचार अत्यन्त संकीर्ण और ओछे थे। उसमे व्यक्ति, समाज या देश का लेशमात्र भी कल्याण नहीं हो सकता था। प्राथमिक शिक्षा की पूरी अवहेलना की गई। उच्च शिक्षा को भी कार्योपयोगी नहीं बनाया गया। पुरानी शिक्षा पद्धति की इन त्रुटियों की प्रतिक्रिया स्वरूप पूज्य बापू ने भारत की शिक्षा पद्धति मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की और शिक्षा के विशाल भवन को सुदृढ़ बनाने के लिये इसकी नींव या बुनियाद को मजबूत और ठोस बनाना आवश्यक समझा। इसीलिये बुनियादी तालीम तालीम की बुनियाद है और बुनियाद की तालीम है।

सन् १९३६ मे मंत्रि मण्डल में कॉंग्रेस के आगमन के साथ ही पूज्य बापू ने उन कामों को हाथ में लेना आवश्यक समझा जो देश की राष्ट्रीयता, जागृति और जीवन के लिये नितान्त आवश्यक थे। इस समय दो ही प्रश्न कॉंग्रेस के आगे प्रमुख थे एक तो मद्यनिषेध और दूसरा शिक्षा। मद्य निषेध का प्रश्न शिक्षा मे जुड़ा हुआ था। एक ओर मद्य निषेध द्वारा सरकारी आमदनी मे कमी और दूसरी ओर शिक्षा पर विशेष व्यय की समस्या थी। भय यह था कि कहीं शिक्षा के प्रश्न को टाल न दिया जाय। इस उद्देश्य से पूज्य बापू ने 'हरिजन' पत्र द्वारा लेख लिखकर भूमिका बनाना आरम्भ कर

दिया। सन् १९३७ के अक्टूबर मास में वर्धा में एक शिक्षा शास्त्रियों एवं विशेषज्ञों की परिषद् बुलाकर बापू ने अपनी योजना विचारार्थ प्रस्तुत की। इसीलिये शिक्षा की इस योजना का नाम वर्धा शिक्षा योजना, सेगाँव–शिक्षा पद्धति या बुनियादी शिक्षा पद्धति के नाम से पुकारते हैं।

महात्माजी ने अपनी योजना प्रस्तुत करते हुए शिक्षा की वर्तमान पद्धति की निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए यह बताया कि यह शिक्षा कोई उपयोगी कार्य नहीं कर रही है और न भविष्य में ही किसी उपयोगी कार्य की सम्भावना है। शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी होने के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों और जन साधारण अशिक्षितों के बीच खाई खड़ी हो गई है। इस विदेशी माध्यम ने ही जन साधारण को पाठशालाओं से दूर रखा है और शिक्षित वर्ग को भी मानसिक और शारीरिक अपंग ही बनाया है। उन्होंने आज की शिक्षा पद्धति में दस्तकारी की कमी की कड़ी आलोचना की। इस कमी के कारण शिक्षित वर्ग शारीरिक श्रम और उत्पादन कार्य करने में अयोग्य हो गये हैं। प्राथमिक शिक्षा में भी बालकों की शिक्षा का उनके निकटस्थ वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि यह शिक्षा न तो ग्रामों की न नगरों की ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकी। शिक्षा पर व्यय की गई धन राशि व्यर्थ गई क्योंकि थोड़े वर्षों के प्राथमिक शिक्षक के पश्चात शिक्षा को स्थायित्व प्राप्त होने का कोई साधन प्राप्त न हो सका। इसलिये उन्होंने यह सुझाव रखा कि प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम सात वर्ष का रखा जाय जिसमें विद्यार्थी की योग्यता मेट्रिक्स तक की हो जाय जिसमें अँग्रेजी को कम करके दस्तकारी जोड़ दी जाय।

दूसरी बात जिस पर उन्होंने जोर दिया वह थी दस्तकारी द्वारा शिक्षा। इसमें उनके दो उद्देश्य थे। एक तो पढ़ाई का खर्च निका-

लना। दूसरा दस्तकारी की क्रियाओं को शिक्षा का साधन बनाना जिससे मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा हो।

परिषद् ने इस नवीन विचारधारा से प्रभावित होकर एक ठहराव किया और डा० जाफिरहुसेन साहब की अध्यक्षता मे ठहराव के मूल सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा की विस्तृत योजना बनाने को एक समिति का निर्माण किया।

मूल सिद्धान्त ये थे—

(१) सम्पूर्ण राष्ट्र के ६ से १४ वर्ष के बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

(२) मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाय।

(३) विद्यार्थी के वातावरण को दृष्टि मे रखते हुए चुने हुए मूल उद्योग के चारों ओर ही शिक्षा के विभिन्न विषयों की रचना हो।

(४) इस शिक्षा पद्धति द्वारा आशा है कि शिक्षक का वेतन निकल सकेगा। समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये बुनियादी सिद्धान्त, उद्देश्य, शिक्षकों की तालीम, निरीक्षण, परीक्षा और शासन आदि सब ही पर यथोचित प्रकाश डाला और परिशिष्ट मे कताई बुनाई के एक मूलोद्योग का पाठ्यक्रम भी प्रस्तुत किया। समिति ने वर्तमान शिक्षा की असफलता का कारण प्रस्तुत करते हुए मूलोद्योग द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त का अनेक दृष्टियों से प्रतिपादन और पुष्टि की।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बालक को केवल किताबी पढ़ाई के बोझ से बचाता है। उसके मस्तिष्क और व्यावहारिक दोनों अनुभवों को समतोल बनाये रहता है। इससे पूरे व्यक्तित्व की शिक्षा होती है।

सामाजिक दृष्टि मे यह श्रमजीवी व बुद्धिजीवी के भेदभाव को मिटावेगा। आर्थिक दृष्टि से यह काम करने वालों की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि करेगा। शैक्षणिक दृष्टि से अधिक से अधिक प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त होगा।

अध्ययन के विषय में मूलोद्योग, मातृभाषा, ग्रीष्म, सामाजिक शास्त्र, सामान्य विज्ञान, चित्रकला, राष्ट्रभाषा और संगीत प्रस्तावित किये गए।

इस समिति की रिपोर्ट को हरिपुरा काँग्रेस ने स्वीकार किया और कार्य संपादन के लिये हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का निर्माण किया। उसी समय शिक्षकों की ट्रेनिंग के लिये वर्धा में पहिली संस्था विद्या मन्दिर ट्रेनिग स्कूल खोली गई।

धीरे-धीरे मध्यप्रान्त, संयुक्त प्रान्त, विहार और वम्बई की सरकारों ने और काश्मीर रियासत ने प्रयोग के ढंग पर बुनियादी शिक्षा का आरम्भ कर दिया। इन प्रान्तों में बुनियादी शिक्षा वोर्ड और स्पेशल आफीसर नियत किये गये। ट्रेनिंग स्कूल खोले गये। प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में वदलने का काम किया गया। राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी इस ओर सहयोग प्रदान किया। पूना के महाराष्ट्र विद्यापीठ, अहमदावाद के गुजरात विद्यापीठ, मछलीपट्टम का आन्ध्रजातीय कलाशाला और दिल्ली की जामिया मिल्लिया के नाम उल्लेखनीय हैं।

केन्द्रीय परामर्श दान-समिति ने वम्बई के शिक्षा मन्त्री श्री खेर के सभापतित्व में जाँच के लिए एक समिति नियत की गई जो वर्धा योजना को ऐवर और वुड रिपोर्ट के आधार पर जाँचे और अपनी सम्मति प्रस्तुत करे।

खेर कमेटी ने वर्धा योजना के बुनियादी स्कूलों को कुछ सुधार के साथ स्वीकार कर लिया। समिति ने सिफारिश की कि:—

(१) एक ही उद्योग नहीं अनेक उद्योगों से शिक्षण कार्य में सहायता ली जा सकती है।

(२) बुनियादी शिक्षा का प्रथम प्रयोग देहातों में हो।

(३) शिक्षा की अवधि ६ से १४ वर्ष की अवस्था तक हो। पाँच वर्ष के वालक भी भर्ती किए जा सकते हैं। इस अवस्था के दो विभाग हों—सीनियर व जूनियर। एक पाँच वर्ष व दूसरा तीन वर्ष।

(४) बेसिक स्कूलों से बच्चों की तब्दीली दूसरे प्रकार के स्कूलों में पाँचवें वर्ग के बाद ही हो या ग्यारह वर्ष की अवस्था के उपरान्त।

(५) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। शिक्षा की भाषा नागरी व उर्दू लिपि में हिन्दुस्तानी हो। शिक्षकों को दोनों भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

केन्द्रीय समिति ने इन सिफारिशों को स्वीकार किया और भारत सरकार व प्रान्तीय सरकारों ने भी अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। शिक्षा की पंच वर्षीय योजना इसी रिपोर्ट के आधार पर है। यही युद्धोत्तर कालीन शिक्षा के विकास की योजना है।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने सरकारी और गैर सरकारी अनेक संस्थाओं को स्थापित कर प्रचार तथा प्रसार का कार्य द्रुतगति से आरम्भ कर दिया। शिक्षकों के ट्रेनिंग का भार भी इसी संस्था ने अपने ऊपर ले लिया। इसके संचालक आचार्य आर्यनायकम और श्रीमती आशादेवी के अथक और भागीरथ प्रयत्न ने बुनियादी शिक्षा के पुजारियों को देश के कोने-कोने में फैला दिया। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के तत्वावधान में जो सार्वदेशिक शिक्षण केन्द्र सेवाग्राम में चल रहा है वह हमारी संस्कृति का प्रतिनिधि और भारत के भिन्न-भिन्न केन्द्रों का प्रेरक और मार्ग दर्शक है।

दक्षिणी भारत में बुनियादी शिक्षा का इतिहास लिखते समय तालीमी संघ के प्रतिनिधि श्री रामचन्द्रजी का नाम नहीं भुलाया जा सकता है। आप वहाँ के प्रमुख कार्य-कर्ता रहे हैं।

बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में बिहार का नाम सभी प्रान्तों से ऊँचा है। इसका श्रेय वहाँ के शिक्षा मंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा तथा बुनियादी शिक्षा के मंत्री श्री रामशरणजी उपाध्याय को है। विशेषता इस प्रान्त की यह रही कि जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के जाने के पश्चात् अन्य प्रान्तों में कार्य शिथिल पड़ गया तब बिहार ने अपने कार्य को यथावत् चलाने का प्रयत्न किया

बम्बई प्रान्त में बुनियादी शिक्षा के कार्य का श्रेय वहाँ के शिक्षा मंत्री श्री खेर को है जो इस नई पद्धति के प्रयोगों की सफलता में सतत प्रयत्न कर रहे हैं।

उड़ीसा, आसाम, पंजाब व बंगाल ने भी सेवाग्राम से ज्योति प्राप्त कर अपने प्रान्तों को बुनियादी शिक्षा के प्रकाश से आलोकित करने का प्रयत्न किया है।

मध्य भारत सरकार ने भी सन् ६५० व १६५१ में कुछ शिक्षकों को सेवाग्राम भेजकर शिक्षा दिलाकर इस ओर कदम बढ़ाया है। ट्रेनिंग स्कूल खोलकर शिक्षकों के ट्रेनिंग के पश्चात् प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित करने की योजना है। मध्यकालीन पाठ्यक्रम दृष्टि को लेकर कुछ सुधार किये गए हैं।

कार्य की ऐतिहासिक डायरी

प्रथम वर्ष (१६३७-३८)—वर्धा में विद्यामन्दिर ट्रेनिंग स्कूल स्थापित किया गया। बिहार, युक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, बम्बई, उड़ीसा और काश्मीर में दस ट्रेनिंग केन्द्र खोले गए व बेसिक एज्युकेशन बोर्ड बनाया गया। शिक्षा के पुन' संगठन की कमेटियाँ बनाई गईं। स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में परिवर्तित किया गया। युक्त प्रान्त में सात अल्पकालीन शिक्षण शिविर भी खोले गये।

द्वितीय वर्ष (१६३८-३६)—मध्यप्रान्त, बम्बई व मद्रास ने तीन शिक्षण केन्द्र और खोले। वर्धा में ट्रेनिंग कॉलेज विद्या मन्दिर इन्स्टीट्यूट नार्मल स्कूल के अध्यापकों व निरीक्षकों के शिक्षण के लिए खोला गया। दीक्षा प्राप्त शिक्षकों की शिक्षा के अनुसार बेसिक स्कूलों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। बिहार के चम्पारन जिले से तीस, बम्बई के तीन सघन क्षेत्रों में २८ और मध्यप्रान्त में ४० स्कूलों से बुनियादी शिक्षा का आरम्भ हुआ। १४ बड़े-बड़े ट्रेनिंग केन्द्र खुल गये जो हिन्दुस्तान की भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा शिक्षा देने लगे।

तीसरा चौथा वर्ष (१६४०-४२)—इस वर्ष कार्य में विशेष प्रगति न हो सकी। विद्या मन्दिर ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट बन्द हो गया। मध्यप्रान्त में पाठ्यक्रम प्रयोगात्मक रूप मे मराठी क्षेत्र मे व हिन्दी क्षेत्र मे चलता रहा। बम्बई में भी प्रयोग तीन केन्द्र महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक में कार्य करते रहे। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने निरीक्षण का कार्य शुरू किया।

पाचवॉ से सातवॉ वर्ष (१६४२-४५)—यह राष्ट्रीय आन्दोलन का समय था। कई कार्यकर्ता गिरफ्तार हो गये और इसका प्रभाव कार्य की प्रकृति पर पड़ा। पूज्य गॉधीजी के जेल से आने के पश्चात् कार्य में पुन: जागृति हुई और सन १६४५ मे सेवाग्राम मे एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन महात्मा गॉधी ने स्वयं किया। इस सम्मेलन ने बुनियादी शिक्षा के प्रचार और प्रसार में पुन: जीवन फूँक दिया। इसी सम्मेलन मे बुनियादी शिक्षा विशारदों और विशेषज्ञों की एक समिति बनाई जो पाठ्यक्रम मे आवश्यक सुधार करे। इसके अनुसार सफाई और आरोग्य को सामान्य विज्ञान और सामाजिक विज्ञान का अंग न मानकर शिक्षा के स्वतन्त्र विषय मान लिए गए। भोजन सम्बन्धी क्रियाओं का भी सामाजिक शिक्षा मे समावेश कर लिया गया

जनवरी १६ ७ मे दिल्ली मे अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में शिक्षा मन्त्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद ने कहा कि हमारी शिक्षा की गति धीमी है। हमें अत्यन्त कम से कम समय मे शिक्षा को अनिवार्य करना होगा। अर्थ एव शिक्षक सम्बन्धी सुझाव भी रखे गये। बुनियादी तथा सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम को निर्धारित करने के लिए समितियॉ बनाई गई जिनका कार्य दस से पन्द्रह वर्ष के भीतर अनिवार्य शिक्षा लागू करने की योजना प्रस्तुत करना था। इन समितियों ने अपनी सिफारिशे पेश करदी है।

बुनियादी स्कूलों के पाठ्यक्रम की योजना मे निम्नलिखित विषयो के समावेश पर विचार किया है।

(१) दस्तकारी, (२) मातृ भाषा, (३) गणित, (४) विधान शास्त्र, (२) सामान्य विज्ञान, (३) कला, चित्रकारी, संगीत और मनोरंजन कार्य, (४) खेल व व्यायाम (५) हिन्दुस्तानी।

सीनियर विभाग के लिये निम्नलिखित उद्योगों की सिफारिश की गई है:—

(१) कताई बुनाई, (२) कृषि, (३) बागवानी, (४) बढ़ई गिरी, (५) मिट्टी का काम, (६) धातु का काम, (७) गत्ते का काम, (८) चमड़े का काम, (६) घरेलू काम। इन विषयों का आरम्भिक काम जूनियर ग्रेड में हो सकेगा। स्कूल का आधा समय उद्योग के कार्य में लगाया जाय। इसमें व्यावहारिक उद्योग कार्य के साथ उद्योग द्वारा पढ़ाई भी शामिल है।

स्कूल का ५३ घण्टे का समय निम्नप्रकार से बाँटा गया है:—

दस्तकारी व अनुबन्धित ज्ञान—२३।
गणित—२० मिनट।
मातृभाषा—४० मिनट।
सामाज विज्ञान व सामान्य विज्ञान—६० मिनट।
कला—४० मिनट।
व्यायाम—२० मिनट।

८

बुनियादी शिक्षा ही क्यों ?

शिक्षा भावी जीवन और उसके भावी कार्यों की बुनियाद है। शिक्षा शास्त्रियों के शब्दों में बुनियादी तालीम तालीम का बुनियाद है और बुनियाद की तालीम है। इस योजना से स्थायी और सर्वाङ्गीण शिक्षा की आशा की गई है। प्रचलित पद्धति के दोषा को दूर करके भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाना इसका कार्य है। वर्तमान शिक्षा में आमूल परिवर्तन करके राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति के आधार पर शिक्षा के भवन की बुनियाद को सुदृढ़ बनाती है। इसमें समग्र जीवन को सुशिक्षित और विकसित करने की शक्ति है। यह मानवता की शिक्षा द्वारा उसे व्यावहारिक क्षेत्र में सफलता देती है। यह मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को बढ़ाकर उसे सच्चा नागरिक तथा समाज-सेवी बनाती है।

इस शिक्षा के द्वारा हम अपनी बुनियादी यानी प्राचीन शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति को प्राप्त कर सकते हैं। बुनियादी शब्द का अर्थ है 'मौलिक'। जिसके द्वारा हमारी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। ये मौलिक आवश्यकताएँ तीन हैं—अन्न, वस्त्र और गृह। 'बुनियादी' शब्द का दूसरा अर्थ 'उत्पत्ति स्थान' है। भारतवर्ष ग्रामों का खेतिहर देश है। हमारी सभ्यता का उद्गम ग्रामों से ही हुआ है। सैकड़ों वर्षों तक हमारी संस्कृति के विकास का केन्द्र भी ग्राम ही रहे हैं। भारत क्या संसार की अधिक से

अधिक सभ्यता अधिकाँश ग्रामों में ही अक्षुण्ण रह पाई है। अतः इन ग्रामों को सुसंस्कृत, सुशिक्षित बनाना बुनियादी शिक्षा के उद्देश्य में सम्मिलित है।

शिक्षा शास्त्रियों के मतानुसार ६ वर्ष से १४ वर्ष तक की अवस्था को बुनियादी अवस्था कहा है। जो शिक्षा मनुष्य के जीवन के इस भाग में हो जाती है वह अधिक स्थायी और सुदृढ़ होती है। मनोविज्ञान के आधार पर भी बालक के मस्तिष्क का अधिक से अधिक भारीपन इसी अवस्था में रहता है। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है इस भारीपन में कमी आती जाती है। इस भारीपन पर ही मनुष्य की शिक्षा की योजना निर्भर है। यदि इस अवस्था का उपयोग कर लिया गया तो मस्तिष्क के वे केन्द्र जागृत रहते हैं और भावी जीवन में उनमें संचित ज्ञान भी काम में आ जाता है अन्यथा यह नष्ट ही हो जाते हैं और फिर इनको शिक्षित किये जाने की सम्भावना कम हो जाती है। इसीलिए मनुष्य के भावी जीवन से सम्बन्धित ज्ञान बुनियादी रूप में इस जीवन की बुनियादी अवस्था में दे दिया जाता है।

समाज में समता, न्याय, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता लाने के लिए उसकी बुनियाद सत्य, अहिंसा और पारस्परिक प्रेम ही होना चाहिए। समता की दृष्टि से लोकतन्त्र प्रणाली के आधार पर समाज को संचालित करने को समाज में एक निश्चित परिमाण में अपने कार्यों, अधिकारों और सामाजिक नियमों को समझने की योग्यता होनी चाहिये जिससे वह अपनी विशेषताओं को विकसित करते हुए समाज को भी उन्नत बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि उनको समान और अनिवार्य रूप से आरम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। उसकी शिक्षा-पद्धति भी ऐसी हो जिसका समान रूप से सब लाभ उठा सकें। इस योजना में इसी आरम्भिक शिक्षा की व्यवस्था को राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा कहा है।

मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताएँ प्रकृति द्वारा पूरी होती हैं।

मनुष्य जाति ने अपने जीवन के आरम्भ काल से ही प्रकृति ही द्वारा शिक्षा प्राप्त की है। धीरे-धीरे निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर भिन्न-भिन्न विषयों की नींव पड़ी है। मूल शिक्षा का उदय प्रकृति के ही संपर्क से हुआ। प्रकृति की वस्तुओं को मनुष्य ने अपने उपभोग के लिए अधिक से अधिक काम मे लिया। इसी काम मे शिक्षा की बुनियाद पड़ी। इसी प्रकार मनुष्य जीवन के आरम्भ से ही समाज के बीच है। मनुष्य में जो कुछ है वह समाज की देन है। जैसा कि मनुष्य नग्न उत्पन्न होता है और समाज द्वारा ही अपना तन ढकना सीखता है वैसे ही मनुष्य के ज्ञान के भंडार की वृद्धि भी समाज ही के संपर्क से होती है। अतः शिक्षा की बुनियाद प्रकृति और समाज ही से है। दस्तकारी इन दोनों को जोड़ने वाली चीज है। मनुष्य कच्चा सामान प्रकृति से लेकर उसे दस्तकारी अथवा अपने उद्योग द्वारा ही समाजोपयोगी बनाता है। इसीलिए बुनियादी तालीम की बुनियाद मे दस्तकारी ही है और शिक्षा के यह तीनों—प्रकृति, उद्योग और समाज बुनियादी केन्द्र भी माने गए हैं।

यह शिक्षा मनुष्य को सब तरह से व्यावहारिक, कर्मठ, कर्तव्य परायण एवं कार्य कुशल बनाने में सचेष्ट है। इसका आधार पारस्परिक सहयोग है जो स्वस्थ सामाजिक जीवन की कुंजी है। इसी के आधार पर स्वाश्रयी, स्वावलम्बी और स्वयं प्रेरित समाज का निर्माण सम्भव है।

६

बुनियादी शिक्षा की योजना

राष्ट्र-पिता बापू की दृष्टि से अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता न रह सका। राष्ट्र के उत्थान में शिक्षा को वह एक महत्त्व पूर्ण अंग मानते थे और इसी कारण शिक्षा-क्षेत्र में भी उन्होंने एक अहिंसक-क्रान्ति द्वारा नवीन दृष्टि-कोण दिया, जिसका आधार शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुकूल तथा मनोवैज्ञानिक है।

वर्तमान शिक्षा की निस्सारता तथा दोषों पर दृष्टिपात करते हुए उसे जीवन के वास्तविक क्षेत्र से पृथक पाकर उसे जीवन की समग्र-दृष्टि देने के उद्देश्य से तथा वर्तमान परिस्थिति व वातावरण के अनुकूल बनाने की दृष्टि से इस प्रणाली को बापू ने जन्म दिया। शिक्षा के वर्तमान दोषों का विस्तृत विवेचन तथा इस नवीन शिक्षा-योजना के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन एक-एक करके आगे किया जायगा। यहाँ पर उसके केवल मूल सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है।

(१) राष्ट्र की जन-तन्त्र प्रणाली के लिये यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक निश्चित परिमाण में जीवनोपयोगी तथा समाजोपयोगी शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय, जिसका प्रबन्ध विदेशी शासन-सत्ता में नहीं किया जा सका। इसीलिये इसको राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा कहा गया है।

(२) यह शिक्षा अनिवार्य रूप से ६ वर्ष से १४ वर्ष तक बालक की बुनियादी अवस्था में दी जायगी। इस अवस्था से पहिले की

शिक्षा को पूर्व बुनियादी और इस अवस्था से बाद की शिक्षा की उत्तर बुनियादी की श्रेणी में रखा गया है।

(३) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(४) शिक्षा किसी दस्तकारी के द्वारा दी जाय।

(५) शिक्षा स्वावलम्बी हो, जिसके द्वारा शिक्षक का वेतन निकल सके।

अब इन एक-एक अंगों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

जिस प्रकार प्रकृति-दत्त वस्तुओं पर सब का अधिकार है और वे सब को समान रूप से मिलती हैं उसी प्रकार शिक्षा भी सब के लिये सुलभ और निःशुल्क होनी चाहिये। बालक की शिक्षा का प्रबन्ध उसी समाज को करना चाहिये जिसमें वह जन्म लेता है। यह विशेष कर उस देश के लिये तो और भी आवश्यक है जिसकी रचना जन-तन्त्र प्रणाली पर की जा रही है। इस प्रकार का विधान तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब कि शिक्षा सार्वजनिक हो। बिना इसके जन-तन्त्र की कल्पना व्यर्थ है। इसी विचार को दृष्टि में रखकर बापू ने शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिये इस वैषम्य को हटाकर सामाजिक न्याय की दृष्टि से शिक्षा को निःशुल्क बनाने की योजना की है।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने का उद्देश्य था कि बालक शिक्षा को स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर सके और उसके मन का स्वतन्त्र निर्माण हो। जहाँ एक तरफ इसका मनोवैज्ञानिक आधार है दूसरी ओर विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के दोषों पर भी एक दृष्टि है जिसमे बालक की अधिकांश शक्ति का उपयोग विदेशी भाषा की तैयारी मे ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त भारतीय जनता में एक गहरी खाई-सी भी पड़ती जा रही है। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ग्रामों की जनता की अवहेलना करते हैं और यह भूल जाते हैं कि भारत की ८०

प्रतिशत जनता ग्रामों में ही है और भारत विशेष कर ग्रामों का ही देश है। इसलिए भारत की अनिवार्य शिक्षा का माध्यम वही हो सकता है जिसको कि भारत के अधिकांश निवासी प्रयोग में लाते हों। प्रत्येक देश की सभ्यता और संस्कृति के लिये उस देश की भाषा का विकास आवश्यक है। जन-समुदाय जिस भाषा के द्वारा सरलता से अपने भावों को व्यक्त कर सकता है वही भाषा शिक्षा का माध्यम बनाई जाना उपयुक्त भी है। इसलिये सुगमता की दृष्टि से तथा अपनी सभ्यता, संस्कृति को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से मातृ-भाषा का ही माध्यम उचित है, किन्तु अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय और संगठन की दृष्टि से देश की एक राष्ट्र-भाषा भी रखना उचित है।

इस पद्धति का तीसरा प्रधान अंग है दस्तकारी अथवा उद्योग द्वारा शिक्षा। शिक्षा के सब विषयों की रचना इसी चुनी हुई दस्त-कारी के चारों ओर होगी। विभिन्न विषयों का ज्ञान इन्हीं दस्तकारी की क्रियाओं द्वारा दिया जायगा। संसार में मनुष्य को अपनी आवश्यक सामग्री प्राप्त करने के लिये प्रकृति की ओर देखना पड़ता है तथा उसे समाजोपयोगी बनाने के पश्चात् समाज की ओर देखना पड़ता है। इस तरह प्रकृति और समाज के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाला साधन उद्योग अथवा दस्तकारी ही है, जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति तथा समाज का अधिकाधिक अध्ययन कर अपना सम्बन्ध सुदृढ़ करता रहता है। दस्तकारी का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने से मनुष्य को अन्य सम्बन्धित विषयों का ज्ञान स्वाभाविक रूप से हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी किसी वस्तु को बनाते समय बालक की सृजन शक्ति का विकास होता है, रचना प्रवृत्ति जागृत होती है और उससे सम्बन्धित बातों को वह स्वयं सीखता चलता है। यदि उद्योग की शिक्षा केवल यंत्रवत् दी जारही है और उसमें बौद्धिक तत्व का अभाव है तो बालक का मानसिक विकास नहीं होगा। इसीलिए बापू शिक्षा का आरम्भ उद्योग के द्वारा ही करना चाहते थे। वे उद्योग द्वारा शिक्षा देकर भारतीय-जीवन में उद्योग

को एक आदरणीय स्थान देना चाहते थे। उद्योग द्वारा शिक्षा के महत्त्व की विस्तृत विवेचना आगे की जायगी।

स्वावलम्बन का पहलू इस प्रणाली की विशेषता है और यही इसके सफल संचालन की तेजाबी जॉच है। शिक्षा की आवश्यकता किसी भी देश तथा शासन-प्रणाली मे इतनी नहीं है जितनी जनतंत्र प्रणाली में है अतएव भारत जैसे निर्धन देश मे अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न एक सामान्य प्रश्न नहीं है। जब विदेशी सत्ता के समय अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न शराब के कर के साथ गुंथा हुआ था यानी बाप-दादों को शराब पिला-पिला कर उसके कर के द्वारा उनके बालकों को शिक्षा दी जाती थी तब बापू ने इस समस्या का हल करने के लिये यह रास्ता निकाला और यह सुझाव रखा कि पालकों को अधिक करों से न लादते हुए बालक ही स्वयं अपनी शिक्षा का भार उठालें और इस तरह कम से कम अपने शिक्षक का वेतन निकाल सकें। शिक्षालय के दूसरे खर्चों का प्रबन्ध शासन करेगा। इस प्रकार बालक अपने आपका अपनी शिक्षा-पूर्ति के साथ अपने समाज और राष्ट्र का क्रियाशील अंग मानेंगे और गुरु के लिये इस प्रकार की गई सेवा अपनी संस्कृति के भी अनुकूल ही होगी। अब प्रश्न मूल उद्योग के चुनाव का है, जिसमे बड़ी साव-धानी की आवश्यकता है, जिस पर स्वतन्त्र रूप से पृथक विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि जो वस्तुएँ बनाई जॉय उनका आर्थिक मूल्य हो जो समाज के उपयोग में लाई जा सकें।

सदाचार, संस्कार और आर्थिक लाभ की दृष्टि से व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही के लिए इसका बहुत बड़ा महत्व है। इससे न केवल बालक शारीरिक श्रम के ही महत्त्व को समझेंगे बल्कि उनमे स्वाव-लम्बन की भावना का विकास होगा और जीवन में वह सृजन की उपयोगिता और उसके महत्त्व को समझेंगे। हमारा ध्येय है कि

बालक की जो आवश्यकताएं बुद्धि, शरीर, नीति और उद्योग से सम्बन्धित हों उनकी पूर्ति की जाय और विकास किया जाय। इस तरह उद्योग द्वारा बौद्धिक और नैतिक साधनों से युक्त यह शिक्षा हाथ, पैर और मस्तिष्क के सम्बन्ध को जोड़ेगी और सर्वाङ्गीण विकास का साधन बनेगी। आज जो श्रमजीवी और बुद्धि-जीवियों के बीच भेद-भाव की गहरी खाई है उनमें परस्पर घनिष्ठता और प्रेम बढ़ेगा और वह एक दूसरे के अधिक निकट आ सकेंगे। इस सम्मेलन से मस्तिष्क की शक्ति हाथों के उत्पादन की शक्ति को बढ़ायेगी जिससे उत्पादन में बौद्धिक कुशलता तथा सुन्दरता आकर संस्कृति का विकास होगा।

इस शान्ति पूर्ण रीति से हम नया व्यक्ति, नया समाज पैदा करना चाहते हैं जिसकी बुनियाद न्याय पर होगी, जिसका मूल-मन्त्र अहिंसा व सत्य होगा। इस समाज में एक वर्ग ऐसा न होगा जिसके पास सब कुछ है और दूसरा ऐसा जिसके पास आवश्यकताओं की साधारण पूर्ति के भी साधन उपलब्ध नहीं हैं। उस समाज में प्रत्येक को जीवन-निर्वाह के लिये काम और मजदूरी मिलेगी और प्रत्येक काम करने वाला समाज का कामकाजी अंग होने के नाते सम्मान का पात्र होगा और स्वाधीन होगा। इसमें एक नया ही जीवन-दर्शन है, जिसमें काम और एक साथ काम करने को शिक्षा का बड़ा साधन माना है। इस तरह पाठशालाएं केवल ज्ञान ठूँसने का स्थान न होकर इस क्रान्ति की प्रयोगशालाएँ होंगी और रात-दिन की क्रियाएँ शिक्षा का साधन होंगी। ये जीवन की क्रियाएँ ज्ञान के प्रकाश से प्रदीप्त, प्रेम से सरस बनाई जाकर "जीवन द्वारा जीवन के लिये शिक्षा" प्रदान करेंगी।

बापू का मत था कि मनुष्य की शिक्षा जब से वह पैदा होता है आरम्भ होकर मृत्यु पर्यन्त चलती ही रहती है। इसलिए जीवन का कोई भी क्षेत्र शिक्षा से सूना नहीं है, और जीवन की प्रत्येक क्रिया

शिक्षा से सम्बन्धित है। मानव जीवन मे जिस प्रकार की एकता और सहज भाव का हम अनुभव करते हैं वही एकता और सहज भाव शिक्षा में भी आना चाहिये। जैसे बौद्धिक व शारीरिक क्रियाएँ जीवन में मिली हैं वैसे ही शिक्षा में भी वास्तविक जीवन के समीप आकर इन क्रियाओं का एक दूसरे मे सम्बन्ध होना चाहिये। इस जीवन-दर्शन को प्राप्त करने पर शारीरिक श्रम, बुद्धि और भावना का सहयोग और सुमेल होगा। ऐसे सहयोग और मेल वाले जीवन से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास और शिक्षा प्राप्त होगी जो कि बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य है।

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य समाज में नया जीवन देकर सजीव, सतेज, स्वावलम्बी उत्साही व्यक्ति बनाना है। जीवन की समग्र दृष्टि इसकी विशेष देन है जिसमें शिक्षा के हर एक पहलू, शारीरिक-शिक्षण, बुद्धि का विकास, नैतिक उन्नति, औद्योगिक कुशलता, व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन का उत्तरदायित्व एक समग्र प्रक्रिया के रूप में आते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शिक्षा-सिद्धान्त में जो मौलिक बातें हैं उनका समावेश बुनियादी शिक्षा में किया गया है। बालक को जो शिक्षा का केन्द्र मानते हैं और वातावरण के महत्त्व को स्वीकार करते हैं उनका इन विचारों से मतभेद नहीं हो सकता है।

संक्षेप में इसके द्वारा अपनी प्राचीन शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति को अपनाया जा सकता है। इसी के द्वारा हम हमारी अन्न, वस्त्र आदि की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। समे हमारी संस्कृति के बुनियादी स्थान ग्रामों की संस्कृति को उन्नत करने की क्षमता है।

इसके द्वारा बालक स्वावलम्बी बनेंगे व अपने उत्तरदायित्व को व सामाजिक कर्तव्यों को निभाना जानेंगे। उद्योग को आधार बना कर श्रम के महत्त्व को समझने के साथ-साथ अपना शारीरिक-बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करेंगे।

उनकी शिक्षा के ज्ञानार्जन के साधन प्रत्यक्ष काम, अवलोकन, अनुभव व प्रयोग होंगे। सहयोग और प्रेम उनके कार्य की आधार-शिला होगी। राष्ट्रीयता की भावना के साथ ही साथ विश्वजनीनता की भावनाओं का उदय होगा। इस तरह एक सम्पूर्ण मानव का विकास होकर एक नवयुग का निर्माण होगा।

१०

नई शिक्षा का सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक आधार

प्राकृतिक विज्ञान व्यक्ति का पक्षपाती है। समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति समाज के हित पर ज़ोर देता है। दोनों ही शिक्षा को व्यावहारिक व उपयोगी दृष्टि से महत्त्व देते हैं। अतएव उन दोनों के समन्वय से लोगों का यह मत हो गया है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को समाज के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में उचित स्थान के योग्य बनाना है। इसलिए आज की शिक्षा में सामाजिक शिक्षा का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसमें सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्तों ने महत्त्वपूर्ण स्थान पा लिया है। अतएव आज की शिक्षा व्यक्ति द्वारा समाज की सेवा के सिद्धान्त में विश्वास रखती है।

इसके अतिरिक्त दूसरा विचार भी उपेक्षित नहीं है कि व्यक्ति जाति की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतीक है। वह भूत की सभ्यता का उत्तराधिकारी है। उसे प्राप्त की हुई सभ्यता को वैसे ही नहीं छोड़ना है बल्कि उसे अपना हिस्सा देकर आगे बढ़ाना और उन्नत करना है। इन सब वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं का शिक्षण-सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षा द्वारा इन विचारों की पूर्ति की जाती है तो वह

T ' ' ̄ ― !-66

पद्धति वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक होनी चाहिये। वह केवल पुस्तकीय ज्ञान पर ही अवलम्बित नहीं रह सकती। प्रत्यक्ष काम, निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग ही उसके आधार हो सकते हैं।

यदि व्यक्ति को समाज के योग्य बनाना है तो शिक्षालय में ही उसे सामाजिक प्राणी की भाँति शिक्षा दिये जाने की योजना होनी चाहिये। जिससे उसे सामाजिक तथा राजनैतिक नियमों का केवल पुस्तकीय ज्ञान ही न हो बल्कि उनका व्यावहारिक प्रयोग और अभ्यास भी हो सके। उसे लोकतन्त्र में स्वायत्त शासन के नियमों व अनुशासन का पूरा ज्ञान तथा अभ्यास होना चाहिये। इससे उसमें आज्ञा-पालन, सहयोग की भावना, नियमों की पाबन्दी, अधिकार तथा कर्तव्यों का ज्ञान और धार्मिक सहिष्णुता आ जायगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शालाओं मे सामाजिक जीवन की व्यवस्था की जाती है जिससे उपर्युक्त गुण स्वभाविक रूप से इस व्यावहारिक शिक्षा के अंग बन जाते हैं। इस प्रकार यह उत्तरदायित्व-पूर्ण शिक्षा भविष्य की तैयारी का एक अच्छा साधन है। इसीलिए इस योजना में पाठशाला की व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर प्रत्येक कार्य बाल-समाज द्वारा सचालित होता है।

इस प्रकार की प्रत्यक्ष सच्ची शिक्षा के लिये वास्तविक समस्याएँ भी होनी चाहिएँ जो केवल एक व्यवस्थित समाज में ही हो सकती हैं। इसकी रचना उत्पादक उद्योग की प्रवृत्ति द्वारा ही हो सकती है। इस प्रकार पाठशाला के कार्य-क्रम में हस्त-कौशल को प्रमुख स्थान देने से ऐसे समाज का निर्माण होगा और बालकों मे सहयोग, अनुशासन, व्यवस्था, योजना आदि गुण आवश्यकतानुसार स्वयं प्रेरणा से बालकों के अंगी भूत होते जायँगे। इस दृष्टि से श्रम तथा उद्योग का सिद्धान्त लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति की शिक्षा के सर्वथा अनुकूल है।

इसमें नैतिक शिक्षा को भी उचित स्थान मिलता है। जब शिक्षा

का आधार उद्योग रहता है तो मनुष्य का समाज से निकट संपर्क रहता है और सामाजिक वातावरण तथा परिस्थिति के आधार पर आवश्यकतानुसार उसमें हेर-फेर भी होता रहता है। इन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की नीति से उसका ज्ञान सजीव रहता है और आस-पास के वातावरण के योग्य बनाये रखने के प्रयत्न मे उसका विकास भी होता रहता है।

एक अच्छे स्वस्थ स्थायी समाज का आधार सत्य, अहिंसा व न्याय ही हो सकते हैं, जिससे मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा करेगा तथा अपने कर्तव्यों द्वारा दूसरे के अधिकारों का मान करेगा क्योंकि समाज के बाहर न तो मनुष्य मनुष्य ही है और न मनुष्य के बिना समाज समाज ही है। समाज का आधार मनुष्य तथा मनुष्य का आधार समाज है। एक समय था जबकि मनुष्य "स्वर्ग के पिता की ही इच्छा के रूप" मे सोचता था किन्तु समय ने करवट ली और मनुष्य की बुद्धि ने विकास पाया, और "सीय राममय सब जग जानी" के अनुसार वह समाज के प्रत्येक घटक को ईश्वर का रूप समझना, उसकी इच्छा की ओर देखना भी अपना आदर्श समझने लगा और उसने यह नियम बना लिया कि दूसरों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो। यह सामाजिक नियम का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसी आधार पर समाज की रचना अहिंसात्मक तथा न्यायपूर्ण बन सकती है।

नये लोकतन्त्रीय शासन की योजना आरामजीवी तथा श्रमजीवियों के भेदभाव के साथ नहीं बन सकती है। उसकी रचना सहयोग की मजबूत नींव पर खड़ी होगी जिसमें प्रत्येक को श्रम करके अपनी जीविका कमाना है। दूसरे के श्रम पर उसकी जीविका का आधार नहीं हो सकता और न शोषण द्वारा वह इतना धन इकट्ठा करके उसके आधार पर दूसरों पर आतंक जमा सकता है। न उनके श्रम के पसीने को अपने सुख तथा विलास-प्रियता के हेतु

काम में ला सकता है। इसीलिए गृह-उद्योगों द्वारा विकेन्द्रीकरण की योजना इसकी भूमिका में है। पूरा समाज समाज के हित के लिये शांतिपूर्ण रीति से अधिक से अधिक सहयोग के साथ श्रम द्वारा प्यार, न्याय, सत्य और अहिंसा की मजबूत नींव पर सुदृढ़ समाज का निर्माण करेंगे। इसमें कोई किसी का शोषण नहीं करेगा, बड़े छोटे का भेदभाव भी न होगा, धार्मिक पक्षपात का पाखण्ड भी न होगा, एक दूसरे से द्वेष न होगा और नैतिक बन्धन दृढ़ होंगे। उद्योग द्वारा राष्ट्रीय भण्डार की वृद्धि होगी, मनुष्य अपने को समाज का क्रियाशील अंग मानेगा और इस प्रकार समाज-सेवा के संस्कार दृढ़ होंगे।

आर्थिक दृष्टि से शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का दूसरा पहलू है; जिसमें पाठशाला में दस्तकारी की योजना द्वारा कम से कम शिक्षक का वेतन निकलना चाहिये। आरम्भ में यदि पूरा वेतन न भी निकल सके तो धीरे-धीरे प्रगति होने पर यह अवश्य ही होगा। यह प्रयोगों तथा अनुभव के बल पर ही निश्चित किया गया है। यह शिक्षण की सफलता की तेजाबी जॉच है। यदि इस आर्थिक दृष्टिकोण को भुला दिया गया तो थोड़े समय में ही योजना असफल हो जायगी। धीरे-धीरे उपयोगी उद्योगों का स्थान केवल दिखावे मात्र के उद्योग ले लेंगे जिनका कोई आर्थिक मूल्य न होगा। यह बात भारत जैसे निर्धन देश को बड़ी अहितकर होगी। काम यदि लगन, कुशलता और वैज्ञानिक ढंग से न किया गया। तो अर्थ पूर्ति में कमी आती जायगी व दूसरी ओर शासन भी इसका भार सहन करने को तत्पर न होगा और एक ऐसी परिस्थिति आ जायगी कि शिक्षा के माध्यम दस्तकारी को छोड़ना ही पड़ेगा। केवल खेल तथा दिखावे मात्र को किया हुआ काम जीवन की वास्तविकता से पृथक् ही रहेगा जिससे न तो सामाजिक शिक्षण ही होगा और न ज्ञान की दूसरी शाखाओं का अनुभव होगा जिसकी रचना उद्योग के साथ की गई है।

गाँधीजी की दृष्टि से दस्तकारी शिक्षण का साधन बनाये जाने के साथ स्वावलम्बन की दृष्टि से स्वयं भी अपना उद्देश्य रखती है। इसी आधार पर बुनियादी शिक्षा में "स्वावलम्बन के लिये शिक्षण" और उत्तर बुनियादी में जब वह कुशलता प्राप्त कर लेते हैं तो "स्वावलम्बन द्वारा शिक्षा" का सिद्धान्त बनाया गया है। यदि ऐसा न हुआ तो योजना अपने महत्त्व को खो देगी। पढ़ाई-लिखाई स्वयं ही न तो शिक्षा का आदि है और न अन्तिम ध्येय है। वह दस्तकारी में कुशलता प्राप्त करने का साधन है। दोनों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। एक का सहारा दूसरे को लगता है। वह परस्पर एक दूसरे की मदद करते हैं और एक दूसरे को बलवान बनाते हैं। इतना अवश्य है कि बच्चे के श्रम की योजना उसकी अवस्थानुसार की जानी चाहिये और मूल उद्योग के चुनने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए।

इस प्रकार मृतप्राय ग्रामोद्योगों और घरेलू धन्धों को पुनर्जीवन प्राप्त होगा और उनकी वृद्धि होगी। मजदूरों की कार्य-कुशलता बढ़ेगी। कभी राष्ट्र को उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा केन्द्रीयकरण करने की आवश्यकता पड़ी तो देश को चतुर और कार्यकुशल श्रमजीवी प्राप्त होंगे। क्योंकि दस्तकार एक अच्छा यन्त्रकार भी हो सकता है। इस प्रकार बालक बचपन से ही श्रम के महत्त्व को समझेंगे जिसके द्वारा देश में अच्छे-अच्छे वैज्ञानिक तथा आविष्कारक उत्पन्न होंगे।

लोग एक शंका करते हैं कि इस प्रकार आवश्यकता से अधिक जो उत्पादन होगा उसका क्या होगा. क्या उनको यह नहीं मालूम कि भारत अधिक उत्पादन की आवश्यकता कृषि तथा उद्योग दोनों ही में अनुभव करता है। यहाँ के लोग आधे भूखे और नंगे हैं। पैदा करने वाले यन्त्र बड़े-बड़े हों अथवा छोटे छोटे हों तात्पर्य उत्पादन से है। विशेष कर एक ऐसे देश को जहाँ की जनसंख्या अधिक है जिनके पास काम नहीं है। उनको आलस्य और प्रमाद से

बचाने के लिए ऐसे ऐसे छोटे उद्योग ही हितकर हैं। इस तरह पैदा किए गए सामान को विदेशी सामान का स्थान लेना चाहिए। इस प्रकार काफी समय तक हमारे देशी उद्योगों में होड़ का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। इसीलिए बापू का कथन था कि उत्पादित सामान को राष्ट्र के काम में लाए जाने की व्यवस्था शासन को ही करनी चाहिए। उसे ऐसे नियम बनाने चाहिए कि जिनसे उनको प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार हम दूसरे देशों पर यन्त्र आदि सामान के लिए आश्रित न रहेंगे और शोषण का द्वार बन्द हो जायगा।

भारत जैसे देश में जहाँ कि लोकतंत्रीय प्रणाली के साथ शिक्षा का प्रश्न अनिवार्य हो जाता है वहाँ राष्ट्र के सामने आर्थिक प्रश्न एक जटिल समस्या है। उसका एकमात्र उपलब्ध साधन यही है कि यदि नागरिक अपने ऊपर अधिक कर का बोझ न उठावें उनके बालक स्वयं ही इस योजना द्वारा शिक्षक के वेतन निकालने का भार वहन कर राष्ट्र व समाज की सेवा करें। विदेशी शासन में अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न शराबखोरी के साथ जुड़ा हुआ था। इसमें पालकों को शराब पिलाई जाकर बालकों की शिक्षा अनिवार्य करने की योजना थी। कैसी अनीति, हिंसा तथा अन्याय था। बापू अपनी योजना में ऐसी अनीति की गुंजायश नहीं देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने अपनी योजना में यह अहिंसात्मक क्रान्ति की है।

उधर राजनैतिक दृष्टि से भी श्रमजीवी और बुद्धिजीवियों के बीच की खाई ने बड़े-बड़े धनवान देशों की शांति को भंग कर दिया है और यह विश्व की अशांति एक समस्या बन गई है। इस पद्धति ने इस खाई को भी सुन्दर ढंग से पाटने की योजना प्रस्तुत की है जिससे एक ही व्यक्ति में बुद्धि और श्रम का समन्वय होकर समाज में समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव तथा न्याय की जड़ मजबूत होगी। जो कि भारत के लोकतन्त्रीय विधान का उद्देश्य है।

११

श्रम का महत्त्व

जैसे भोजन हमारे शरीर को बनाता और उसे सहारा देकर चलाता रहता है वैसे ही काम या श्रम के द्वारा मनुष्य के उच्च गुणों का विकास होता रहता है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है और इस तरह हाथों की क्रियाओं द्वारा मस्तिष्क का शिक्षण होता है। काम द्वारा मस्तिष्क का विकास होता है। विकसित मस्तिष्क द्वारा काम में कुशलता आती है। हमारा शरीर अस्थियों, रगों, पुट्ठों व रक्त-मांस का बना हुआ पिंट है। भोजन में से जैसे चूना हमारी हड्डियों को बनाता है, नमक रक्त को शुद्ध करता है, प्रोटीन मांस पेशियों को बनाते हैं और शकर आदि शक्ति देते हैं, वैसे ही जब काम भी उसके अखण्ड स्वरूप में लिया जाता है तो वह मनुष्य के स्नायु विभाग का विकास करता है और उसकी कल्पना-शक्ति, विवेक और साहस की वृद्धि करती है।

ऊपर बताए गए ढंग से जैसे हमारे शरीर को भोजन के प्रत्येक प्रकार के तत्वों की आवश्यकता है वैसे ही काम को भी उसके सब अंगों-सहित लेने की आवश्यकता है। काम के मुख्य अंग दो हैं (१) उत्पादन जो विकास और आनन्द का कारण है। (२) श्रम। जैसे संतुलित आहार में सब तत्त्वों की उचित परिमाण में आवश्यकता है वैसे ही काम में भी इन दोनों तत्त्वों का महत्त्व है। काम में श्रम का भाग मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक है। कोई चित्रकार केवल

अच्छे अच्छे चित्र देखने ही से अच्छा कलाकार नहीं हो सकता और न कोई गायक केवल संगीत सुनने से ही उस कला में प्रवीण हो सकता है। इसके लिये तो अपने परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता होगी। इसके बीच का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसलिए जब काम के आनन्द के हिस्से के साथ श्रम का भी भाग सम्मिलित होता है तभी सम्पूर्ण विकास होता है।

काम मनुष्य को उसके व्यक्तित्व के प्रदर्शन का अवसर देता है और उसकी उच्च भावनाओं को जाग्रत कर उसके गुणों का विकास करता है। मनुष्य के सिद्धान्त, आदर्श, धर्म आदि गुण उसके कार्य में प्रतिबिंबित रहते हैं।

शक्तिशाली लोगों ने सदा से ही काम के इन दोनों अंगों का विभाजन कर अपनी ओर आनन्द का हिस्सा रख लिया है और श्रम का दूसरा हिस्सा मजदूरों पर लादकर उनको दासत्व के बंधन में बाँध रखा है श्रम-जीवियों और बुद्धि-जीवियों में एक बड़ी खाई बनकर कार्य के इस विभाजन ने हिंसा व विध्वंस किया है। न्याय-पूर्ण अहिंसक प्रणाली में किसी राष्ट्र, जाति अथवा मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह उसके श्रम के हिस्से को दूसरे पर लादे और स्वयं उसके आनन्द का उपभोग करे।

काम के तीन प्रकार हैं—(१) दूसरे की आज्ञानुसार लादा गया काम। (२) काम के ही लिए काम। (२) अपनी स्वयं प्रेरणा से स्वतंत्र उद्देश्य से काम। पहली तरह का काम दासता है, जिसमें मानवी जीवन की शक्ति का ह्रास होता है। दूसरे रूप में आनन्द प्राप्त होता है जैसे व्यायामादि। तीसरे प्रकार के काम में वास्तविक जीवन है जिसमें श्रम और आनन्द दोनों का समावेश है और इसी के द्वारा मनुष्य के उच्च गुणों का विकास होता है।

गुलामी के कामों में स्वयं प्रेरणा न होने से रुचि का अभाव रहता है और उसमें आगे बढ़ने की शक्ति भी नहीं होती जिससे व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है। आजकल वही सबसे बड़ा

व सबसे चतुर व्यक्ति माना जाता है जो अपने कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त कर सके। काम में से श्रम का भाग हटाया तो नहीं जा सकता इसलिए यदि वह स्वयं श्रम नहीं करता तो दूसरों से श्रम लेता ही है किन्तु इस तरह काम का विभाजन होने से एक ओर आनन्द और दूसरी ओर श्रम बढ़ जाता है और अमीर लोग आनन्द के बोझ से दबे जाते हैं और गरीब श्रम के बोझ से दब रहे हैं। इस तरह समाज में भी संतुलन न होने से अशांति रहती है। इसी प्रकार धन-संचय का उद्देश्य भी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने से हटकर दूसरों पर अधिकार जमाना और उनको दासत्व के बन्धन में बांधना ही बना जा रहा है इससे राष्ट्र की संस्कृति का ह्रास होता है।

सम्पूर्ण व्यवस्थित काम शरीर को शक्ति, स्वास्थ्य और सन्तोष देता है तथा मानवी गुणों का विकास करता है। काम के द्वारा केवल उत्पादन ही नहीं होता बल्कि उसका प्रभाव काम करने वाले पर भी पड़ता है और इस प्रकार व्यक्ति के विकास के साथ समाज की भी उन्नति होती रहती है, संस्कृति का उत्थान होता है, समाज में धैर्य, सन्तोष, स्वावलम्बन, स्वयंप्रेरणा, सृजन शक्ति, मौलिकता और आत्म-विश्वास का उदय होता है। धर्म ने चाहे इन आदर्शों को जन्म दिया हो किन्तु उन आदर्शों की प्रयोगशाला तो काम ही रहा है। क्योंकि नित्य-प्रति की आने वाली समस्याओं के हल द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। काम जीवन की तैयारी के लिये पाठशाला है और सदा से ही किसी देश तथा जाति की उन्नति में काम का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

आवश्यकता यह है कि काम में, काम करने वाले का हित निहित रहना चाहिये। यदि काम अपनी स्वयं प्रेरणा तथा आन्तरिक इच्छा से किया जाता है तो वह उन्नति का साधन है।

कार्य के परस्पर विभाजन का जहां तक सम्बन्ध है वहां तक वह बुरा नहीं है, किन्तु वह विभाजन इस स्थिति तक न पहुँच जाय

कि किया हुआ काम का सम्पूर्ण काम या बनी हुई चीज़ में सम्बन्ध प्रतिबिंबित न हो, क्योंकि ऐसा न होने से काम करने वाले को आनन्द का अनुभव नहीं होता है। इसलिये काम के विभाजन की योजना में यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि सम्पूर्ण वस्तु से सम्बन्ध प्रत्यक्ष दीखता रहे जिससे बनी हुई वस्तु में बनाने वाला अपनी मेहनत का दर्शन कर अपनत्व का अनुभव कर आनन्द का उपभोग कर सके। इन सब ऊपर बताई गई बातों का अभाव बड़े बड़े कारखानों के कामों में होता है जहाँ काम करने वाले निर्जीव कल के पुर्जों की तरह काम करते रहते हैं।

यह सब लाभ जोकि काम द्वारा अपेक्षित है वह ग्रामोद्योगों और गृह-उद्योगों द्वारा सुलभ प्राप्त हो सकते हैं जिनमें श्रम भी है और आनन्द भी है। कार्य की स्वतन्त्रता भी है, स्वयं प्रेरणा भी है और आर्थिक विकेन्द्रीकरण का भी सबसे अच्छा साधन है।

इस प्रकार जब काम और श्रम के महत्त्व पर विचार करते हैं तो "क्रिया द्वारा शिक्षा" का महत्त्व समझ में आता है जिसका बुनियादी शिक्षा में प्रमुख स्थान है

१२

दस्तकारी द्वारा शिक्षा

इस विचार के मूल प्रवर्तक बापू ने हरिजन में लिखा है कि "शिक्षा से मेरा तात्पर्य शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास से है। बालक के अन्दर जो भी सौन्दर्य है उसका विकास करना ही शिक्षा है। शिक्षा साक्षरता नहीं है। साक्षरता शिक्षा का न तो आदि है न अन्त। यह तो एक साधन है. इसलिए शिक्षा का आरम्भ मैं 'कार्य' से करना चाहता हूँ. बालक की शिक्षा का आरम्भ तब ही होता है जब बालक कुछ करना या बनाना सीखता है।"

उन्होंने यह भी कहा है कि मेरी योजना में हाथ से चित्र बनाने या अक्षर लिखने के पहले बालक औज़ारों का उपयोग करना सीखेंगे। आँखें जिस तरह संसार की दूसरी चीज़ों को देखती हैं उसी तरह अक्षरों व शब्दों को देखेंगी तथा परखेंगी। शिक्षा की यह पद्धति पूरी तरह स्वाभाविक होगी, बालकों का मनोरञ्जन होगा और वे आनन्द का अनुभव करेंगे। यह दूसरी प्रचलित प्रणालियों की अपेक्षा सस्ती और प्रगतिशील होगी। उसमें बालकों की शारीरिक, नैतिक. और आत्मिक शक्तियों का विकास होगा और मेहनत भी नहीं अखरेगी। इसके साथ देशभक्ति का आदर्श भी सामने रहेगा, जिससे शिक्षा उदात्त बन जायगी। बालक शारीरिक श्रम को बुद्धि के विकास का अविभाज्य अंग व साधन समझेंगे. और अपने

परिश्रम द्वारा अपनी शिक्षा का खर्च चुकाने में देश और समाज की सेवा करेंगे।

हाथ-पैर की शिक्षा बुद्धि की शिक्षा के साथ ही दी जानी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा में हाथ-पैरों की शिक्षा को विकास का मुख्य साधन समझकर प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिये। इस प्रकार शारीरिक श्रम का बुद्धि के साथ सम्बन्ध जुड़ जाने से मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास में सहायता मिलेगी। इस तरह का ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध व्यक्ति की बुद्धि तथा हृदय को सुसंस्कृत करेगा। जो मनुष्य अपने हाथों को शिक्षित नहीं करते और केवल पुस्तकीय ज्ञान ही प्राप्त करते हैं उनके जीवन में रस नहीं होता और न उनका मन एकाग्र हो पाता है।

हमने हाथ के काम को और उद्योग को हल्का समझा, इसीलिए हमारे यहाँ अन्य देशों की भाँति यन्त्र शास्त्री न हो सके। यदि हमने इन धन्धों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा मानी होती तो अवश्य ही हमारे यहाँ भी बड़े-बड़े आविष्कार हुए होते। दिमाग का जितना सम्बन्ध सिर से है उतना ही हाथ से भी है। इसलिये हमें हाथ-पैरों के परिश्रम को उच्च और उन्नत मानना सीखना चाहिए। मनुष्य चाहे किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, विज्ञान और उद्योग दोनों के विकास के लिये सारे समाज के सामूहिक लाभ की दृष्टि से इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ देना चाहिये। इससे उनमें निरीक्षण, परीक्षण निश्चय वृत्ति और तीव्र निर्णय-शक्ति का उदय होगा। इस प्रकार भेद-भाव रहित होकर जब उद्योग द्वारा शिक्षा श्रमजीवी तथा बुद्धिजीवी में समन्वय स्थापित कर भेद-भाव मिटावेगी तब श्रम को लोग सम्मान की दृष्टि से देखेंगे और समाज में दृढ़ता आवेगी। आर्थिक दृष्टि से यह काम करने वालों की उत्पादन शक्ति अधिक वैज्ञानिक बनाकर बढ़ा देगी किन्तु इस शिक्षा का उद्देश्य केवल कारीगर मात्र ही निकालना नहीं होना चाहिए, बल्कि उद्योग की समस्त क्रियाओं को शिक्षण का साधन व ज्ञान का वाहन ही समझा जाना चाहिए।

इस मुख्य उद्योग अथवा दस्तकारी के आस पास ही बालक के ज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों की रचना होगी, जो बालक के मस्तिष्क, शरीर, साहित्य और कलाभिरुचि के विकास में सहायक होगी। बालक जो कारीगरी सीखेगा उसका वह निष्णात भी बनेगा और वह उसके सर्वतोमुखी विकास का साधन भी होगा। पुरुषार्थ और सदाचार के संस्कार इस उद्योगमयी शिक्षा के बहुमूल्य उपहार बन जायँगे। हिन्दुस्तान जैसे निर्धन देश की शिक्षा को भी स्वावलम्बी बनाने की अनहद शक्ति इसमें अलक्ष्य रूप से व्याप्त है। गरीब देश में शिक्षा और उद्योग को एक दूसरे से अलग रखना लाभदायक है। जब हमारी चादर छोटी है तो तनको अच्छी तरह ढकने के लिए हमे थोड़ा सिकुड़ कर सोना चाहिये। किफायत का मार्ग हमेशा कष्टकर ही रहा है। अतः यदि इस तरह थोड़ा कष्ट उठाकर भी पाठशालाओं का काम चल सका तो पाठशाला के खर्चे में भी विद्यार्थी हाथ बँटा सकेंगे, और स्वयं भी स्वावलम्बी समाज के अङ्ग बनेंगे। इन्हीं उद्योगों द्वारा हमारा दूसरे देशों से सम्बन्ध होगा। वह सम्बन्ध खुले आदान-प्रदान तथा सहकारिता का होगा। वह परस्पर एक दूसरे पर लादा नहीं जायगा, क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध मे एक दूसरे के शोषण की गुञ्जायश नहीं है।

उद्योग की शिक्षा द्वारा मनुष्य की शिक्षा जीवन की समग्र और महान् प्रवृत्ति का एक क्रियाशील अंग बनकर पारमार्थिक तथा तथ्य पूर्ण बन जाती है, और एक नवीन अहिंसात्मक संस्कृति की नींव पड़ती है।

प्राचीन समय में कृषि और उद्योग आदि की जो व्यवस्था थी वह केवल किताबी शिक्षा से ढीली पड़ गई है फलस्वरूप देश की खेती और उद्योग-धन्धों का ह्रास हो रहा है। जब हमारी शिक्षा उद्योगमयी होगी तब उसका गृह उद्योगों से तथा माता-पिता के धन्धों से घनिष्ठ सम्बन्ध होगा। इसलिए बालकों को भी ऐसी शिक्षा में रुचि होगी और विद्यार्थी भी गृह-जीवन के निकट सम्पर्क में

आवेंगे और पारस्परिक प्रेम दृढ़ होगा। इसके फलस्वरूप हमारी शिक्षा अत्यन्त व्यावहारिक, सजीव और सफल होगी। पालक और गुरु सजीव पुस्तक के रूप में चलते-फिरते, कम से कम समय में अधिक से अधिक जीवनोपयोगी ज्ञान दे सकेंगे। शिक्षकों के उत्साह और विद्यार्थियों की जिज्ञासा से उस सजीव पुस्तक में नित्य नये हेर-फेर होकर नये अध्यायों की वृद्धि होगी और शिक्षा सजीव और नित्य नई बनी रहेगी। इस प्रकार शिक्षक, पालकों तथा बालकों का साहचर्य बहुत ही सहज, रसप्रद और परस्पर विकास-साधक ही सिद्ध होगा। ऐसे शिक्षक भी सनातन विद्यार्थी ही रहेंगे और शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों परस्पर उन्नति के पथगामी बनेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रत्येक मनुष्य को अपने भीतर की अलक्ष्य सृजन शक्ति का अनुभव हो जाना चाहिए। क्योंकि हर एक मनुष्य एक विकासमान ईश्वरीय अंश है, और ईश्वर की परम शक्ति जो सृजन शक्ति है वह उसमें भी है। यदि वह शक्ति उसमें जागृत न हो तो वह शिक्षा किस काम की है।

दस्तकारी द्वारा शिक्षा की पद्धति को पृथक रूप से शिक्षा-सिद्धांतों की मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कस कर आगे देखेंगे।

१३

मूल उद्योग का चुनाव

बुनियादी शिक्षा की पद्धति में दस्तकारी द्वारा शिक्षा सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है। उसीके अनुसार उस दस्तकारी के चुनाव में भी काफी विचार करने तथा सावधानी रखने की आवश्यकता है जिससे कि वह केवल दिखावा मात्र की ही औद्योगिक कला बनकर न रह जाय। इसीलिए उसके द्वारा पाठशालाओं का स्वावलम्बी होना उसकी एक तेजावी जाँच रखी गई है। शिक्षा में दस्तकारी को जोड़ने मात्र से काम न चलेगा। वह तो शिक्षा का साधन ही है। जबकि शिक्षा की आधार-शिला ही उसको बनाया जा रहा है तो उसकी योग्यता और उपयोगिता पर पूरी दृष्टि रखनी पड़ेगी। इसी को दृष्टि में रखते हुए कुछ सिद्धान्त नीचे दिये जा रहे हैं जिनको उसके चुनाव के समय ध्यान में रखना उपयोगी सिद्ध होगा।

१. बुनियादी दस्तकारी का चुनाव देश, काल, परिस्थिति तथा वातावरण के अनुसार होना चाहिये इसलिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर इन परिस्थितियों के प्रभाव से उनका भिन्न-भिन्न होना ही सम्भव है और ऐसा होना उचित भी है।

२. इस दस्तकारी द्वारा समाज की तथा व्यक्तियों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। भारतवर्ष में तो अभी इन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी उपलब्ध नहीं हैं।

इन बुनियादी आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र तथा घर की आवश्यकताएँ प्रधान हैं।

३. उस क्षेत्र में दस्तकारी के लिये कच्चा सामान सुलभता से प्राप्त हो और यदि उसे आस पास से मँगाना भी पड़े तो वह इतनी दूर न हो कि जिसके आर्थिक व्यय के कारण "लागे पैसा उपजे पौन" की कहावत चरितार्थ हो। साथ ही इस प्रकार जो वस्तुएँ बनाई जायँ उनकी खपत बाजार में हो सके। यदि ऐसा न हो सका तो उसका चुना जाना व्यर्थ है। क्योंकि आज के देशों में परस्पर मनोमालिन्य की यही तो बड़ी समस्या है कि मशीनों द्वारा अनावश्यक उत्पादन करके फिर दूसरे देशों में बाजार की खोज की जाती है और झूठे विज्ञापनों द्वारा सामान दूसरे देशों पर लादा जाता है। यह भी शोषण का एक रास्ता ही है। इसीलिए प्रथमतः उसी क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान इसके चुनाव में रखना आवश्यक होगा।

४. इस दस्तकारी के लिये साधारण तथा कम कीमती सामान की ही आवश्यकता हो जिसका प्रत्येक बालक सुविधा से प्रबन्ध कर सके। काम में लाया जाने वाला सामान तथा यन्त्र इतना सरल हो कि जिसको काम में लाने में साधारण बुद्धि वाले बालकों को ज्यादा उलझन न पड़े और वे सरलता से सीख जायँ।

५. उसका आरम्भिक व्यय भी अधिक न हो जिसके कारण उसका प्रत्येक पाठशाला में चलाया जाना ही असम्भव हो जाय। राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा की योजना द्वारा जब शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाने का प्रयत्न है तब तो हमको इतने बड़े देश की प्रत्येक पाठशाला की आवश्यकता की दृष्टि से भी सोचना पड़ेगा। यदि यह बहुव्यय साध्य हुआ तो केवल थोड़ी ही पाठशालाओं में प्रयोगात्मक रूप में ही चल सकेगा और आज की शिक्षा की भाँति उसका फायदा भी थोड़े ही धनवान उठाने पायँगे और शिक्षा हमारे सिद्धान्त से हट जायगी।

६. जहाँ तक संभव हो यदि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन या निर्माण किया जा सके जो समानता से विश्व के सब मनुष्यों के ही लिए उपयोगी हो तो ऐसी उपयोगी कला का तो पूछना ही क्या है? विशेष कर खेती व बागवानी की उत्पादित वस्तुएँ तो समानता से ऐसी ही उपयोगिता की श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

७. जहाँ तक संभव हो यह आवश्यक ही है कि कच्चा सामान जो इस दस्तकारी को आवश्यक है वह सालभर तक सरलता से प्राप्त होता रहे अन्यथा उसको संग्रह करने की दृष्टि से भी वर्ष के आरम्भ काल मे भी अधिक धन की आवश्यकता पड़ जाती है जिसका सुगमता से प्रबन्ध करना कठिन होता है।

८ यह बालकों को रुचिकर होनी चाहिये जिससे वे सुस्ती, आलस्य का अनुभव न करें। यदि वह चुनी हुई दस्तकारी बालकों की रुचि के अनुकूल न हुई तो उसका उपयोग शिक्षा के साधन की तरह किया जाना कठिन ही हो जायगा, क्योंकि जिस कार्य मे रुचि नहीं होती उसमें न तो लगन होगी, न उत्सुकता होगी और न उनके प्रयोग में सफलता होगी, जिसके आधार पर उनके अनुभव की सीढ़ी बनने वाली है।

९. रुचि के साथ यह भी विचार रखना आवश्यक है कि उस दस्तकारी की योग्यता भी उस श्रेणी के बालकों में है या नहीं। योग्यता के विपरीत काम लाद दिये जाने से भी विकास के स्थान पर शक्तियों का ह्रास होता है। बालक उसके अनावश्यक बोझ से दब जाते हैं और लकड़ी के इस तरह के मोटे कुन्दे मे आग की चिनगारी ही बुझ जाती है। आग प्रज्वलित होने के पश्चात बड़े मोटे लकड़ी के कुन्दे राख होते चले जाते हैं। इसी प्रकार बालक की योग्यता तथा शक्ति पर ध्यान रख कर ही उसको उद्योग में प्रवृत्त किया जाना उचित है।

१०. इस दस्तकारी द्वारा अधिक से अधिक शिक्षा दी जा सके उसका सम्बन्ध ज्ञान की अन्य शाखाओं से जोड़ा जा सके, समवाय

पद्धति द्वारा ज्ञान की एक शाखा का समन्वय दूसरे के साथ सुगमता से स्वाभाविक रूप में किया जाकर ज्ञान को अखण्ड रूप में दिया जा सके।

११. उस दस्तकारी में बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास की योग्यता हो। उसके मस्तिष्क का विकास हो और उसकी सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत किया जाकर उसका संतुलित विकास हो। उसकी क्रिया में उत्सुकता तथा कौतूहल द्वारा स्वाभाविक समस्याएँ उपस्थित हों व बालक स्वयं उनके हल किये जाने में अपने ज्ञान-भण्डार को बढ़ा सकें।

१२. जिस प्रकार बालक अपनी अवस्था में तथा श्रेणी में नीचे से ऊपर को बढ़ता जाता है और उसी के अनुसार उसका क्रमिक विकास भी होता रहता है। उसके ज्ञान की परधि भी विस्तृत होती रहती है। उसी प्रकार इन दस्तकारी की क्रियाओं में सरलता से कठिनता की ओर बढ़ाये जाने की योग्यता होनी चाहिए जिससे एक ही दस्तकारी का सिलसिला नीचे से ऊपर की तरफ चला जाय और बालक पूरी तरह से अपने अभ्यास द्वारा ज्ञान को पुष्ट करके स्वावलम्बी बन सके। दूसरी पद्धतियों की भाँति शिक्षा के एक आधार से दूसरे पर बन्दर की भाँति चला जाना शिक्षण की दृष्टि से, अनुकूल नहीं है। इसमें न तो बालक के ज्ञान का ही परिपाक होने पाता है न वह स्वावलम्बन की श्रेणी तक ही पहुँच पाता है और जो अल्पकाल में साधारण निर्माण कार्य होता है वह अल्पकालीन उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात नष्ट कर दिया जाता है।

१३. जैसे-जैसे बालक उच्च श्रेणी की ओर बढ़ता जाता है उसी के अनुसार उसको नवीन अन्वेषण तथा आविष्कार करने के अवसर दस्तकारी द्वारा प्राप्त होने चाहिएँ। पुरानी पद्धति में जैसे-जैसे ऊँची श्रेणी की ओर बढ़ते गये वैसे-वैसे शिक्षा अधिकाधिक बौद्धिक ही होती गई। उच्च श्रेणी में व्यावहारिक काम करने की न तो रुचि ही रही और न ऐसा काम ही शिक्षा के साधन के रूप में उनके

सामने उपस्थित किया जा सका, जिससे वे उसके व्यावहारिक अनुभव के आधार पर नई खोज कर सकते।

१४. उसमें आध्यात्मिक तथा नैतिक गुणों की वृद्धि किये जाने की योग्यता होनी चाहिये। उसके द्वारा मनुष्य में स्वावलम्बन तथा श्रम का विकास हो। उसमे आत्म-विश्वास उत्पन्न होकर वह भविष्य के भय से भयभीत न हो। उसमें निर्भीकता हो, स्वाभिमान हो और वह अपने को समाज का निकम्मा अंग मानने के स्थान पर उत्पादक तथा उपयोगी अंग मान सके। ये गुण मनुष्य में आत्म-बल प्रदान कर उसका आत्मोत्थान करते हैं।

१५. उस दस्तकारी में यथासम्भव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के साधन देने की योग्यता हो जिसके द्वारा आज की बढ़ती हुई बेकारी की समस्या का हल भी निकल सके।

इस नियमों की तराजू पर जो मूलोद्योग तुल सकता है वही इस नवीन पद्धति में उपयोगी सिद्ध होगा।

———

१४

समवाय

बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी द्वारा शिक्षा को प्रधानता दी गई है और विविध विषयों के ज्ञान की रचना भी इसी मूल उद्योग के इर्द-गिर्द की गई है। दस्तकारी को ज्ञान का वाहन अथवा साधन बनाया गया है। तात्पर्य यह कि विविध विषयक-ज्ञान बालक की क्रियाओं से ही समवेत सम्बन्धित किया जायगा। इसी सम्बन्ध के जोड़ने को समवाय कहते हैं। स्वाभाविक रूप से बालक की क्रियाओं के साथ समस्याएँ उपस्थित होती हैं। क्यों, कहाँ, व कैसे के उत्तर जानने की बालकों में तीव्र इच्छा रहती है। इन समस्याओं का यथावसर हल कर देने में बालक का विविध-विषयक-ज्ञान स्वाभाविक रूप से बढ़ता जाता है, और वह जीवन की वास्तविकता के निकट होने के कारण सजीव भी होता है। बालक अपने निरीक्षण, परीक्षण और अनुभव की कसौटी पर कसकर अपने ज्ञान का परिपाक कर लेता है।

बालक अपनी नैसर्गिक शक्तियों को लेकर जन्म लेता है। उसके व्यक्तित्व के विकास पर शिक्षा-परम्परा, वातावरण तथा परिस्थितियों का घनिष्ठ प्रभाव पड़ता है। भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने वाली ज्ञान-रश्मियाँ शिक्षा-बिन्दु पर केन्द्रित होती हैं और उसके प्रकाश को पाकर बालक का व्यक्तित्व खिल जाता है।

पाठ्यक्रम के विषयों पर नज़र डालने से भी स्पष्ट है कि वह भी

बालक के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा मूल उद्योग पर ही निर्धारित किया गया है। इस योजना से वह जीवन के अधिक निकट आ जाता है। शिक्षा में जिसे सामान्य विज्ञान कहते हैं वह प्राकृतिक चौगिर्द से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार सामाजिक ज्ञान हमारे सामाजिक वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। दस्तकारी अथवा मूल उद्योग इन दोनों को जोड़ने का साधन है, क्योंकि दस्तकारी का मतलब तो यही है कि प्रकृति से पदार्थों को लेकर उनको समाजोपयोगी बना दिया जाय। अतएव दस्तकारी जो हमारे इन दोनों प्रधान केन्द्रों को जोड़ती है विविध विषयों के ज्ञान की प्राप्ति का स्वाभाविक साधन है।

ऐसी स्वाभाविक शिक्षा देने का ढंग भी स्वाभाविक ही होना चाहिए। बच्चे की प्रवृत्तियाँ क्रियात्मक होती हैं इसलिए दस्तकारी द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाना स्वाभाविक है। बालक अलग-अलग पाठ्य विषयों के वास्तविक अर्थ और उद्देश्य को काफी देर के बाद ही समझना शुरू करता है, किन्तु प्रत्यक्ष काम में उसकी तात्कालिक रुचि होती है। इसलिए उसकी मस्तिष्क की शक्ति को विकसित करने का यह मनोवैज्ञानिक ढङ्ग है कि उसे दस्तकारी के काम की विविध क्रियाएँ, शंकाओं और समस्याओं का समाधान करते हुए वैज्ञानिक ढंग से सिखाई जायँ। उसके स्वयं के निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उसके अनुभव का परिपाक हो और उसमें आत्म-विश्वास बढ़े। जैसे-जैसे बच्चा कच्चे माल को और औज़ारों को काम में लाता है वैसे-वैसे शिक्षक को उसे भौतिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान देने का सुलभ अवसर प्राप्त होता है। इससे बालक की उत्सुकता और स्वाभाविक रुचि होती है। इस प्रकार पाठ्य-पुस्तक की अपेक्षा इस श्रवण पद्धति से दस गुना ज्यादा ज्ञान दिया जा सकता है। यदि उचित रीति से दस्तकारी सिखाई जाय तो बालक को यह जानने की तीव्र इच्छा होगी कि कच्चा माल कहाँ से आता है, कैसे पैदा होता है, किन-किन औज़ारों का कैसे इस्तेमाल होता

है, वे कहाँ से मिलते हैं, उनमें क्या सुधार हो सकते हैं, बने हुए सामान का समाज में क्या उपयोग है, दूसरे पड़ोसी देशों से उसका क्या सम्बन्ध है, आदि-आदि अधिक से अधिक जानकारी लेने को वह खुले मस्तिष्क से तत्पर रहेगा और ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान और अनुभव बढ़ेगा उसमें पढ़ने-लिखने की उत्सुकता व शक्ति भी आती जायगी। ज्ञान न केवल स्कूल तक ही सीमित रहेगा बल्कि स्कूल के बाहर की दुनिया भी उसके ज्ञान का क्षेत्र बन जायगी। उसमें चीजों के जाँचने और परखने की जिज्ञासा होगी। समय पाकर वह अपने संचित ज्ञान को व्यवस्थित कर लेगा। शिक्षा का यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। जो स्वीकार करता है कि बच्चे का मन एक सम्पूर्ण चीज है, इसलिए वह ज्ञान को सम्पूर्ण रूप में ही ग्रहण करता है न कि टुकड़ों-टुकड़ों में। इसलिए स्कूल के कार्यक्रम में अलग-अलग विषयों को आपस में सम्बन्धित कर देना ही शिक्षा-सिद्धान्त के अनुकूल है।

समवाय पद्धति दस्तकारी को ही शिक्षण की पहिली मंजिल बना देती है। जिस प्रकार एक चुम्बक लोहे के अलग-अलग टुकड़ों को अपनी ओर खींच लेता है और उन्हें एक खास ढङ्ग से जोड़ देता है उसी प्रकार बालक की रुचि दस्तकारी में केन्द्रित होकर इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, सामान्य-विज्ञान, भाषा, गणित और कला के विविध सम्बन्धित-विषयों की जानकारी स्वाभाविक ढङ्ग से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये कपास ही ले लीजिये। उसकी पैदावार के सम्बन्ध में कृषि, भूगोल, विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, समाज पर उसका प्रभाव आदि अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किस प्रकार मशीनें आईं और औद्योगिक क्रान्ति ने सभ्यता का कैसे ह्रास किया, भारत का कपड़े का व्यापार कैसे नष्ट हुआ आदि-आदि। वर्तमान युग में खादी का कैसे महत्त्व बढ़ा आदि विषय इतिहास और समाज-शास्त्र पढ़ाने में मदद करते हैं।

वैज्ञानिक पक्ष में वनस्पति-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन आदि की जानकारी कृषि के साथ गुँथी रहती है।

दस्तकारी की क्रियाओं से सम्बन्धित नाप तोल और काम का लेखा, गणित भी शिक्षा के साधन हैं।

ग्राम-गीतों द्वारा साहित्यिक अभिरुचि को जाग्रत किया जा सकता है। सम्बन्धित चित्रकारी द्वारा कला की ओर रुचि बढ़ सकती है। शारीरिक श्रम और व्यायाम सारी क्रियाओं मे लगा ही हुआ है जो स्वाभाविक रूप से शरीर को स्वस्थ, पुष्ट और बलवान रखता है। तात्पर्य यह कि कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं रह जाता जिसका सम्बन्ध इससे न जोड़ा जा सकता हो केवल आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक का ज्ञान-भण्डार उथला न हो और वह उचित अवसर का सदुपयोग करने में सचेत रहता हो।

यह पद्धति ज्ञान को कर्मशील बनाती है। बुद्धि को जीवन से, तर्क को मनोविज्ञान से, और शास्त्रीयता को समझदारी से जोड़ देती है। इस प्रकार बालक जो ज्ञान मनोवैज्ञानिक रीति से लेगा उसे तार्किक रीति से अपने मन मे सुलझा लेगा जिससे समय आने पर उसके मस्तिष्क में ज्ञान के एक ऐसे भवन का निर्माण हो जाय जिसकी एक-एक चीज़ से वह परिचित हो।

एक सफल वकील जिस तरह अपनी बात को सिद्ध करने को अनेक बातों को ढूँढ़कर समावेश करता है उसी तरह एक योग्य शिक्षक भी दस्तकारी सिखाते समय उन सब विषयों की जानकारी को जोड़ देता है जो उसके ज्ञान के साथ पिरोई जा सकती हैं। क्योंकि सीखने के विविध विषय एक दूसरे में ओत प्रोत हैं।

ज्ञान जो किसी रोचक वस्तु के साथ अनुबद्ध होकर आता है उसे समझने में तकलीफ नहीं पड़ती है। सृष्टि एक रूप है। संसार की रचना की दृष्टि से भी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को ढूँढ़कर काम में

लाना और उसी के द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षा देना नई तालीम की विशेष योजना है।

जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करनी हैं। वे कैसे, कहाँ व कब बनती हैं। यह प्रश्न सबको समान रूप से होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तरों द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है, योग्यता बढ़ती है, सामर्थ्य बढ़ती है और आनन्द का अनुभव होता है। मनुष्य कुदरत से सामान लेकर उसे ऐसा रूप देता है जो समाज के काम में लाया जाता है। इस तरह प्रकृति तथा सामाजिक जीवन का परिचय हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक होता है। ये स्वाभाविक रूप से दस्तकारी के साथ गुँथा हुआ है। बुद्धि कार्य के पीछे-पीछे जाती है। गीता के अनुसार सारे ज्ञान का परिपाक कर्म में होता है। कर्म से ज्ञान बढ़ता है और ज्ञान से कर्म में कुशलता आती है। बुनियादी शिक्षा कर्म के द्वारा ज्ञान बढ़ाने की ही साधना है।

समवाय द्वारा सफल शिक्षण वही है जिसमें प्रश्न अपने आप कार्य द्वारा उठते जायँ, जिनका क्रिया से घनिष्ट सम्बन्ध हो और जो बच्चों को आकर्षित करें। विशेष ध्यान इस बात का रखना चाहिये कि अवसर को न जाने दिया जाय। उसका ठीक समय पर ही उपयोग किया जाय जिससे स्वभाविकता नष्ट न होने पावे।

ज्ञान और कर्म का घना सम्बन्ध है। काम ही में ज्ञान की बहुत-सी बातें भरी पड़ी हैं। उन बातों को शृङ्खला-बद्ध करके बच्चों के सामने स्वाभाविक ढंग से रखना समवाय का मुख्य काम है। उद्योग को शिक्षा का साधन बनाने से पुरुषार्थ और सदाचार के संस्कार शिक्षा के बहुमूल्य उपहार बन जाते हैं। स्कूल वस्तुओं के निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और अनुभवों से वह सूक्ष्म का ज्ञानार्जन कर सकते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर यह शिक्षा का सर्व मान्य सिद्धान्त है।

बच्चे स्वभाव से चंचल होते हैं। स्कूलों में बन्द रहकर किताबें पढ़ना उनको पसन्द नहीं है। उद्योगमयी शिक्षा की यह पद्धति उनके स्वभाव के अनुकूल है। यह हाथ की और दिमाग की शिक्षा

उनके दिमागी और अमली दोनों अनुभवों को समतोल बनाये रहती है। इसी पूरे व्यक्तित्व को समतुल शिक्षा कहते हैं। आंखों से निरीक्षण, हाथ-पैर के परिश्रम के साथ जब मस्तिष्क का मेल होकर समाज हितकारी कार्य होगा तब ही मनुष्य में आत्म-निर्भरता और समाज हित के भाव जाग्रत होंगे। उसका हृदय और मस्तिष्क सुसंस्कृत होकर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति शिक्षा का कार्य है।

१५

समन्वय

ज्ञान को क्रिया के समवाय द्वारा जोड़ना जितना आवश्यक है उतना ही एक विषय का सम्बन्ध दूसरे विषय से जोड़ना भी आवश्यक है। यही सह-सम्बन्ध का परिष्कृत रूप है। इसी को अनुबन्ध भी कहते हैं। इसका तात्पर्य विचार-सहचर्य से है। यह अनुबन्ध है पढ़ाई के विषयों का दस्तकारी, प्राकृतिक और सामाजिक चौगिर्द के साथ सम्बन्ध, अनुबन्ध के यही तीन प्रस्थान हैं: इस प्रस्थान-त्रयी के भीतर जिसका समावेश न हो ऐसा कोई ज्ञान नहीं है।

इस योजना का आधार मनोवैज्ञानिक है। आधुनिक मनोविज्ञान ने ज्ञान और क्रिया के महत्वपूर्ण आपसी सम्बन्ध को हमारे सामने प्रकट कर दिया है। नये स्कूल का मौलिक सिद्धान्त क्रियाशीलता है। इसकी यह विशेषता है कि उसमें बालक स्वयं के निरीक्षण-परीक्षण तथा अनुभव के आधार पर एक विषय को दूसरे विषय से जोड़ता हुआ ज्ञान को अखण्ड रूप में प्राप्त करता जाता है। इससे उसमें आरम्भ ही से ध्यान, पर्यवेक्षण और प्रयत्नशील प्रयोग की आदतें पक्की होती चलती हैं। यह पद्धति ज्ञान को व्यवहारिक रूप देने का पाठ पढ़ाती है। तात्कालिक निर्णय और ठीक परिणाम निकालने की शक्ति पैदा हो जाती है। यह पद्धति स्कूल और जीवन के बीच सच्चा सम्बन्ध स्थापित करती है। काम और ज्ञान जो पुरानी परिपाटी में अलग अलग बन्द कोष्ठे में समझे जाते हैं उनमें

वियोजन की जगह संयोजन होगा और प्रतियोगिता की जगह सहयोग जिससे एक दूसरे के घात-प्रतिघात से एक दूसरे का शोधन होगा परिष्कार होगा, और उन्नति होगी।

ज्ञान से कर्म में कुशलता आवेगी और कार्य कुशलता से ज्ञान में वृद्धि होगी। बुद्धि कर्मानुसारिणी के अनुसार बुद्धि कर्म सच्चा अनुबन्ध वह है जिसमें सामाजिक व भौतिक वातावरण में जिस मूल उद्योग को चुना जाय उसी की क्रियाओं में से स्वाभाविक अवसर प्राप्त हों और उन समस्याओं की पूर्ति के फल-स्वरूप ज्ञान की एक शाखा का दूसरी शाखा से सहमेल किया जाकर ज्ञान अखण्ड रूप मे बढ़ाया जा सके। तात्पर्य यह कि दस्तकारी की विभिन्न क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप दिल, दिमाग और हाथों का क्रियात्मक सहयोग ही अनुबन्ध है। इस कला में कुशलता प्राप्त करने के लिये शिक्षक को मनोविज्ञान व बालकों की मूल प्रवृत्तियों के अध्ययन की आवश्यकता है। शिक्षक की चतुर्मुखी उन्नति और बहुमुखी ज्ञान भी कम आवश्यक नहीं है।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि बालक को शिक्षा योजना में उन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर दिया जाय जिन्हें स्कूल के पाठ्यक्रम मे विभिन्न विषयों के नाम से सम्मिलित किया गया है। इससे वह जीवन से अलग और उदासीन रहने के बजाय जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं द्वारा अनुभव को आगे बढ़ा सकेंगे। शिक्षा का नया सिद्धांत बच्चे को एक खोज करने वाले यात्री की तरह उन पुराने रास्तों पर चलाना है जिन पर चलकर मनुष्य ने विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त किया है। संक्षेप में, यह शिक्षा-क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की एक व्यावहारिक पूर्णता है। गेटे का कथन है कि "यद्यपि संसार समष्टि रूप से आगे बढ़ता है, लेकिन नवयुवक को सदा अपनी यात्रा आरम्भ से शुरू करके व्यक्तिगत रूप से संसार की संस्कृति के विभिन्न युगों

में से होकर गुजरना चाहिए।" यही हमारी मानवता तथा सभ्यता के विकास का मार्ग रहा है।

मनुष्य की शारीरिक हलचल के साथ उसकी दिमागी हलचल का सम्बन्ध है। जानना, अनुभव और संकल्प यह मस्तिष्क की क्रियाशीलता ही है। यही शारीरिक कार्य को प्राप्त करती है। यही विचारों के घेरे को विस्तृत कर विविध विषयक ज्ञान के भण्डार को भरते हैं। अमेरिका के शिक्षा-शास्त्री डिवी का कथन है कि विचार स्वयं कोई चीज़ नहीं है और न वह उद्देश्य ही हो सकते हैं। ये तो किसी कठिनाई को दूर करने की ज़रूरत से उत्पन्न होते हैं। उनका उद्देश्य प्रस्तुत कठिनाई पर विजय पाने का उपाय ढूँढ़ निकालना है। उपाय पर ग़ौर करना, मस्तिष्क में उसके परिणामों की तस्वीर बनाना उसके बाद अपने कार्यों की विभिन्न मंज़िलें सोचना और उनमें अनुकूल क्रम पैदा करना विचार का ही परिणाम है। यही सिद्धान्त अनुबन्ध के आधार हैं।

साधारण तौर पर अनुबन्ध के लिये दो चीजें आवश्यक हैं। एक तो वह जिसका अनुबन्ध किया जाय और दूसरा वह जिसके साथ अनुबन्ध किया जाय। इसी दूसरी चीज़ को बुनियादी शिक्षा में अवसर कहते हैं। बुनियादी शिक्षा में यह सम्बन्ध बहुत निकट और घनिष्ट होता है और अनिवार्य आवश्यकता की गांठ से बँधा रहता है। शिक्षा के क्षेत्र में अनियन्त्रित अनुबन्ध न तो संभव है और न वाँच्छनीय ही है। यह अवसर की स्वाभाविकता पर निर्भर होना चाहिये। उसमें यह गुण होना चाहिए जिससे कुछ हलचल पैदा हो और बच्चे की मानसिक वृत्ति क्रियात्मक हो जाय। बुनियादी अनुबन्ध में अगर किसी बात को समझना इसलिए जरूरी हो जाता है कि उसे समझाये बिना किसी दूसरी बात को समझना असम्भव है तो दोनों बातें बराबर का महत्व प्राप्त कर लेती हैं और इस तरह क्रिया में और अनुबन्ध में कोई भिन्नता नहीं रहती।

अनुबन्ध के तरीके भी भिन्न भिन्न होते हैं, और होने भी चाहिएं, क्योंकि वह अवसर और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर हैं।

इस प्रकार एक विषय का दूसरे विषय से अनुबन्ध करने से निम्नांकित लाभ हैं:—

(१) इससे हमारे मानसिक जीवन में दृढ़ता और अविचलितता आयेगी।

(२) बालक संसार की उपयोगी प्रवृत्तियों का अनुभव करने लगते हैं और यदि ज्ञान की किसी एक शाखा में उनकी रुचि उत्पन्न हो गई तो वह अनुबन्ध की शृङ्खला द्वारा दूसरी शाखा की तरफ स्थानान्तरित की जा सकती है।

(३) ज्ञान और अनुभव के बीच सम्बन्ध स्थापित करने से हमारी रुचि पूर्ण क्रियाओं के बीच भी एकता पैदा होती है जो ज्ञान में अखण्डता और दृढ़ता लाती है।

(४) बालक एक विषय को दूसरे विषय की सहायता से समझ सकता है। एक विषय के कुछ अंशों में वह स्वयं परिचित होता है और परिचित से अपरिचित की ओर के सिद्धान्त के अनुसार दूसरे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता होती है।

(५) शिक्षा के विषयों में आपसी सम्बन्ध से पाठ रोचक बन जाता है। रुचि के आधार पर स्मृति स्थायी होती है। इन पुराने संचित ज्ञान के आधार पर नवीन विषय में सरलता से रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

(६) पूर्व ज्ञान का उपयोग नवीन विषय की शिक्षा में हो जाता है और इस प्रकार ज्ञान से अज्ञान या ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता होती है।

समन्वय के सम्बन्ध में शिक्षा-सिद्धान्त के प्रसिद्ध विद्वान रेमन्ट महोदय का कथन है कि कोई विषय या धन्धा जब तक भली भाँति समझ में नहीं आती तबतक उसके अन्य विषयों से सम्बन्ध का

अध्ययन न किया जाय। इसे हम समन्वय का सच्चा सिद्धान्त मानते हैं। किन्तु समन्वय की सफलता शिक्षक पर निर्भर है। इसके लिये शिक्षा के विस्तृत ज्ञान-भंडार की आवश्यकता है। उसे अच्छी शिक्षा दीक्षा प्राप्त, सचेत, कुशाग्रबुद्धि, तत्काल तथा निश्चित मनवाला, खुले मस्तिष्क का होने की आवश्यकता है जो विभिन्न विषयों से सम्बन्धित कोने-कोने के ज्ञान और उसके साधनों को ढूँढ़ निकाले। जिसमें किसान का सा उद्योग हो, वैज्ञानिक सी सूझ-बूझ, माता का सा हृदय और कलाकार-सी अनुभूति हो।

१६

समवाय की रीति

समवाय पद्धति का क्षेत्र विशद है। समवाय के व्यापक आधार स्कूल में होने वाले काम, स्कूल का निकटस्थ समाज और वहां का प्राकृतिक वातावरण है। इन तीनों क्षेत्रों से विकास के पर्याप्त साधन प्राप्त होते हैं। इनसे सम्बन्धित वर्गीकरण करके कार्यक्रम की रचना करना चाहिये।

जिन उद्योगों और कामों का समावेश परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल किया गया है उसके साथ विषयों का मेल होना चाहिये। इसी मेल का उद्घाटन करना समवाय पद्धति की शिक्षण कला है

कामों की सूची जिनकी योजना प्रायः बुनियादी पाठशाला में की जाती है।

१ दस्तकारी—कताई-बुनाई, कृषि, बढ़ई गीरी, धातु व दफ्ती का काम मिट्टी का काम आदि।

२ सफाई व स्वास्थ्य की देख रेख।

३ सामाजिक कार्य—रसोई बनाना और उसकी आनुषंगिक प्रक्रियाएँ।

४ आनन्द विधायक कार्यक्रम—उत्सव, त्यौहार, प्रदर्शिनी, संग्रहालय शैक्षणिक यात्रा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम और मनोरंजन के कार्य।

इन कामों के द्वारा पाठ्य क्रम में निर्धारित क्रम विषयों का सम्बन्ध जोड़ कर बौद्धिक विकास की योजना बनाना चतुर शिक्षक का काम है। निर्धारित विषयों में—भाषा साहित्य, गणित सामान्य विज्ञान समाज शास्त्र, संगीत और चित्रकला है।

इन सभी विषयों का एक ही काम से सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। अतः कार्यक्रम से जिस अंग से स्वाभाविक सम्बन्ध जोड़ा जा सके उसका अवसर के अनुसार लाभ उठाना चाहिये। दस्तकारी में काम आने वाला सामान और दस्तकारी की क्रियाएँ बालकों को आरम्भिक अवस्था में अक्षर ज्ञान तथा शब्द ज्ञान देने को पर्याप्त होंगी किन्तु बड़ी कक्षाओं में साहित्यिक भावनाओं और कल्पनाओं का विकास करने के हेतु सामाजिक कार्यों से ही सहायता लेनी पड़ेगी। डायरियाँ, रिपोर्टें, आलोचनाएँ उत्सवों के कार्यक्रम पर्याप्त साधन उपस्थित करेंगे।

गणित के लिए उद्योग के सहारे पर्याप्त ज्ञान दिया जा सकेगा। कृषि और लोहे लकड़ी के काम द्वारा गणित के ऊँचे सिद्धान्तों को सिखाया जा सकता है। क्रय विक्रय के लेखे से गणित की अन्य क्रियाओं का ज्ञान कराया जा सकता है।

सामान्य विज्ञान के लिए प्राकृतिक प्रतिवेश प्रचुर मात्रा में साधन प्रस्तुत करता है। नित्य प्रति के निरीक्षण की वस्तुएँ पानी, आग, हवा, पौदे, जीव जन्तु, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भोजन, वस्त्र आदि ज्ञान प्राप्त करने के सुलभ साधन हैं।

समाज शास्त्र के लिए अपने इर्द गिर्द के भौगोलिक वातावरण से ही आरम्भ करना उचित है। मूलोद्योग के काम में आने वाली वस्तुएँ उनका उत्पादन और उनकी प्राप्ति; देश का आयात निर्यात, देश के उद्योग धन्धे, अमुक वस्तु के उपयुक्त जलवायु, प्राकृतिक रचना, उनका देश के जीवन पर प्रभाव और अन्य देशों से सम्बन्ध आदि अनेक साधन अपनाए जा सकते हैं। राष्ट्रीय, राजनैतिक,

धार्मिक, सामाजिक पर्वों, त्योहारों और उत्सवों का आयोजन ऐतिहासिक ज्ञान देने के लिए प्रत्यक्ष साधन हैं जिसमें एक जीवन जाति का सांस्कृतिक जीवन लक्षित होता है। नागरिक शास्त्र की शिक्षा भी स्कूल के समाज और उसके संगठन द्वारा प्राप्त होती है। सामाजिक उत्सव इस विषय की शिक्षा के लिए आवश्यक योग दान देते हैं।

कला का प्रत्यक्ष ज्ञान सफाई स्वच्छता के कार्यक्रम, वस्तुओं की व्यवस्था पूर्ण रचना, उत्सवों और त्योहारों की सजावट, दस्तकारी के काम की सजावट आदि अच्छा अवसर प्रदान करते हैं।

स्वास्थ्य और सफाई का काम व्यक्तिगत और सामाजिक सफाई और स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। स्वस्थ वातावरण का शरीर पर प्रभाव, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की स्वास्थ्य की दृष्टि से समुचित देख भाल, बीमारियों की रोक और उनसे बचने के उपाय और उपचार, भोजन का शरीर पर प्रभाव, उचित संतुलित भोजन, खाद्य की समस्याएँ, ऋतुओं के अनुसार वस्त्र आदि अनेक सम्बन्धित ज्ञान को जोड़ा जा सकता है।

एक कक्षा वार निश्चित रूप रेखा आगे दी जा रही है किन्तु बुनियादी शिक्षक के लिए वह केवल एक नमूना मात्र ही है। उनको तो अपनी पाठशाला की विशेष परिस्थिति और वातावरण के अनुसार योजना बनानी पड़ेगी। बुनियादी पाठशाला के शिक्षक स्वतः भी अपने कामों की डायरियाँ रखते हैं और अपने गत वर्ष के अनुभव से आगामी वर्ष के कार्य की योजना बनाने में सहायता लेते हैं। नई तालीम नई है वरन नित्य नई है। उसमें तो दैनिक नवीनता ही मिलेगी और तब ही वह नई रह सकेगी। इसीलिए शिक्षा शास्त्रियों ने जीवन की जो शिक्षा कहा है। वह तो जीवन ही के साथ-साथ चलती है। प्रति दिन जैसा हमारा जीवन नया रूप धारण करता है हमारी समस्याएँ और आवश्यकताएँ भी नई बनती हैं।

नये ज्ञान की प्राप्ति में इस नवीनता का उपयोग करना ही नई तालीम का काम है ।

समवाय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टि कोण की नवीनता ही रखी है किन्तु मौलिक सिद्धान्त सब का एक ही है कि बच्चा जो कुछ सीखे काम के द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप में सीखे। बच्चे का काम अपने स्वतः के दृष्टि कोण से उद्देश्य पूर्ण हो। बच्चे उस काम को करने की आवश्यकता समझें और उसमें रुचि रखें।

चतुर तथा सफल शिक्षक वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों की आवश्यकताओं, उनके अनुसार कामों, उत्सवों, त्योहारों के अनुरूप ही शिक्षण का कार्यक्रम बनाते हैं। आकस्मिक आवश्यकतानुसार उसमें उचित हेर फेर करने की भी गुंजायश रखते हैं। मूलोद्योग से सम्बन्धित बच्चों की आवश्यकता और वातावरण के अनुसार ही बुनियादी पाठशाला के साहित्यिक अपनी पाठशाला के योग्य साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। वास्तव में प्रत्येक पाठशाला का इस प्रकार का साहित्य ही जीवित साहित्य होगा

आनन्द विधायक कार्यक्रमों से साहित्य, संगीत कला का घनिष्ट सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वे विशुद्ध आनन्द के जितने साधन हैं उतने ही मानव-विकास के भी हैं। उनमें समवाय के पूर्ण तत्त्व प्राप्त हैं। प्रदर्शिनी, उत्सवों आदि के समय जिस साहित्य का अध्ययन और सृजन होता है संभव है उतना एक दीर्घ समय के परिश्रम का भी फल हो। यह इस समवाय पद्धति की ही देन है।

बापू ने इस पद्धति के सम्बन्ध में लिखा है कि "एक बढ़ई मुझे बढ़ई गिरी सिखाने में चीजों को यंत्र की तरह काम में लाना सिखा देगा। लेकिन बुद्धि का विकास शायद ही हो। यदि यह काम में बढ़ई गिरी के शास्त्र को जानने वाले से सीखूंगा तो उससे मेरी बुद्धि का भी विकास होगा और मैं न केवल एक होश्यार बढ़ई बल्कि इंजीनियर भी बन सकूंगा। क्यों कि चतुर बढ़ई, गणित, भूगोल,

चित्रकला, कृषि आदि काम में आने वाले सम्बन्धित विषयों का ज्ञान भी सिखायगा।"

इस प्रकार की औद्योगिक शिक्षा को एक हेय और नीचा काम नहीं समझा जायगा। शिक्षा में सन्तोष और उपयोगिता आ जायगी। श्रम का महत्व बढ़कर उसके प्रति श्रद्धा और सम्मान होगा। बुद्धि और कर्म के सुमेल से कला, साहित्य विज्ञान और उनके द्वारा संस्कृति की उन्नति होगी।

१७

मूलोद्योग द्वारा समवेत ज्ञान की योजना

कक्षा प्रथम, विषय—गणित

कार्य—समवेत ज्ञान।

कातना—सूत को अटेरने के समय गिनती सिखाना, पूनी की और सूत की गिनती द्वारा जोड़ व बाकी का बोध कराना, काते हुए सूत के तारों की संख्या लिखाना, पूनियों के लेन-देन और बटवारे से जोड़ बाकी का बोध कराना।

कृषि और बागवानी—पौधों की गिनती करके, खेत की नाप करके गिनती सिखाना, तरकारी अनाजादि की तोल द्वारा बाँटों का ज्ञान कराना।

कागज व गत्ते का काम—नाप द्वारा गज़, फीट, इञ्च का बोध कराना, गिनती सिखाना, जोड़ बाकी कराना।

सामाजिक कार्य—चटाई बिछाने में गिनती सिखाना, चीजों को बाँटते समय गिनती करना, चीजों को यथा स्थान रखते और उठाते समय गिनना।

कक्षा द्वितीय

कातना—तारों के लेखे द्वारा गिनती और जोड़ बाकी का कठिन अभ्यास, कपास की तोल में सेर, छटाँक, तोला आदि का ज्ञान, पूनियों के बटवारे में साधारण गुणा व भाग।

कृषि व बागबानी—नाप और तोल की सहायता से जोड़ बाकी का कठिन अभ्यास लिख कर हिसाब लगाना, नाप और तोल के प्रमाणों का ज्ञान, कीमत के साथ सिक्कों का मूल्य बताना।

कागज व गत्ते का काम—नाप के प्रमाणों का ज्ञान, साधारण जोड़ बाकी गुणा भाग का अभ्यास।

सामाजिक कार्य—सफाई के सामान का बटवारा व हिसाब, साफ किए हुए हिस्से को नापना। भोजनालय में सामान व तरकारी भाजी तौलना फलों को बांटने का हिसाब करना।

कक्षा तृतीय

कातना—सूत का अंक निकालने में गुणा भाग का ज्ञान, कीमत निकालने में रुपये, आने आदि का अभ्यास और ज्ञान। कातने के समय से समय का बोध कराना।

कृषि व बागबानी—मन सेर छटांक की तोल और रूपान्तर, खेतों की लम्बाई चौड़ाई की नाप व बीघा आदि का मोटा ज्ञान, ज्योमिति के साधारण आकारों और आकृतियों का बोध, खरीद बिक्री द्वारा तोल व कीमत का हिसाब रखना व रूपान्तर करना, भिन्न का मोटा ज्ञान देना, समय का बोध कराना।

गत्ते का काम—नाप का विशेष अभ्यास, ज्योमिति के आकारों और आकृतियों का बोध।

सामाजिक कार्य—पाठशाला की भोजन व्यवस्था में नाप, तोल, खरीद वितरण आदि द्वारा व्यवहारिक ज्ञान, टोलियों में बांटना और काम का लेना, समय का हिसाब, काम की कीमत या मजदूरी का हिसाब आदि

कक्षा चतुर्थ

कताई—रुई व सूत के हिसाब के द्वारा आमद व खर्च का हिसाब, औसत गति, लाभ हानि, काम की गति व मजदूरी का हिसाब।

कृषि व बागवानी—मन सेर छटाँक व रुपये आने पाई की मिश्र क्रियाएँ, जमा खर्च रखने की रीति, काम सम्बन्धी हिसाब, त्रैराशिक, क्रय विक्रय द्वारा व्यवहार गणित और महाजनी गुर, व्यावहारिक ज्योमित व साधारण आयत व वर्ग का क्षेत्र फल।

गत्ते का काम—क्षेत्रफल का बोध, कच्चे माल से सम्पूर्ण वस्तु के बनने तक कीमत व मजदूरी आदि का हिसाब, लाभ हानि व कार्य सम्बन्धी प्रश्न, त्रैराशिक, व्यावहारिक गणित व गुरु।

सामाजिक कार्य—सफाई के काम में क्षेत्रफल, काम व समय सम्बन्धी प्रश्न, भोजन व्यवस्था में सामान का मनुष्यों के हिसाब से लेखा, जमा खर्च, क्रय विक्रय आदि में गुरु का व्यावहारिक अभ्यास।

कक्षा पाँचवीं

कातना—सूत की समानता, कस आदि की क्रियाओं द्वारा वर्गमूल व गहरा का बोध कराना। त्रैराशिक व भिन्न सम्बन्धी बोध।

कृषि बागवानी—सामान की खरीद बिक्री द्वारा भिन्न का ज्ञान, लाभहानि व सैकड़ा प्रति सैकड़ा व औसत का ज्ञान, खेत की नाप से क्षेत्रफल ऐकिक नियम त्रैराशिक, नल, पानी और हौज सम्बन्धी प्रश्न, चेन की सहायता से जमीन नाप कर दशमलव का ज्ञान।

गत्ते का काम—भिन्न-भिन्न आकृतियों का क्षेत्रफल, आकृतियों व
आकारों को बनाना, नफा नुकसान का हिसाब।

सामाजिक कार्य—भोजनालय के हिसाब के समय औसत का ज्ञान,
भिन्न का ज्ञान, सैकड़े का हिसाब, आदि।

प्रस्तुत योजना शिक्षकों को केवल एक सूझ देने के लिए नमूने के रूप में दी गई है। योजना में पाठ्यक्रम की आवश्यकतानुसार हेर फेर किया जा सकता है। ऊपर के कक्षा में और अन्य पार्यों से भी सम्बन्ध जोड़ा जाकर अधिक से अधिक शिक्षण की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। शिक्षक का चैतन्य मस्तिष्क इस प्रकार की अनेक खोजें करने में मूलोद्योग की पूरी बारीक छानबीन कर डालेगा। इससे स्पष्ट है कि शिक्षक को मूलोद्योग की क्रियाओं में कितना कुशल और सफल होना चाहिये।

भाषा और साहित्य का समवेत ज्ञान

प्रथम श्रेणी

कताई—काम में आने वाली चीजों द्वारा बोलना सिखाना, किए हुए काम का मौखिक वर्णन, चीजों की व्यवस्था व उन पर लिखे गए नामों द्वारा अक्षरों का बोध, अक्षरों से शब्दों की रचना, चीजों के नाम आदि, कताई में गाने।

कृषि बागवानी—चीजों के नाम द्वारा अक्षरों की पहचान, फूलों व पौधों के निरीक्षण द्वारा आत्मप्रकाशन, खेती के गाने, कहानियाँ।

गत्ते का काम—दिए गए काम का विवरण आदि काम में आने वाले सामान की चर्चा।

सामाजिक कार्य—समाज के नित्य प्रति काम में आने वाली चीजों को देखना और उनके नाम, समाज में किए गए काम का मौखिक वर्णन, समाजिक घटनाओं का वर्णन, कहानियाँ, प्रहसन व समाज के धन्धे गिरों की नकल आदि।

द्वितीय वर्ग

कताई—चीजों के नाम लिखाना और पढ़ाना, उनकी क्रियाओं से सम्बधित वाक्य रचना करना। गीत याद करना और गाना। किए हुए कामों का वर्णन करना।

कृषि बागवानी—कृषि कार्य से शब्द-भण्डार बढ़ाना, कृषि सम्बन्धी कविता और लेख लिखवाना, काम का विवरण लिखना व पढ़कर सुनाना पद्यों को पढ़कर उनके भाव समझने के लिए प्रेरित करना।

गत्ते का काम—काम मे आने वाली वस्तुओं का विवरण लिखना व चीजें बनाने की क्रियाओं का विवरण करना व लिखना।

सामाजिक कार्य—सफाई सम्बन्धी कार्य और उनका विवरण, समाज के भिन्न-भिन्न कार्यों की मौखिक रिपोर्ट और संक्षिप्त लेखी विवरण।

तृतीय वर्ग

कताई—कार्यों की डायरी रखना। नई सिखाए गए तरीकों का लेखी रेकार्ड रखना।

कृषि बागवानी—काम सम्बन्धी डायरी, खाद्य सामग्री, जानवर जीव जन्तु आदि की कहानियाँ, पहेलियाँ लेख आदि का अध्ययन व भाव प्रकाशन।

गत्ते का काम—कार्य का विवरण अधिक स्पष्टता और कुशलता से साथ करना।

सामाजिक कार्य—भोजनालय व सफाई सम्बन्धी कामों मे सहयोग व कार्यों के विवरण का शुद्ध लेखन। भोजन व सफाई सम्बन्धी लेखों का पाठ व भाव प्रकाशन।

चतुर्थ वर्ग

कताई—कताई सम्बन्धी कामों का लेखा रखना, कताई सम्बन्धी लेख, सूत, कपास कपड़े की आवश्यकता, भिन्न-भिन्न प्रकार के चर्खों का वर्णन।

कृषि बागवानी—दैनिक कार्य की डायरी, छोटे छोटे दिन भर कामों के प्रश्न, कथा व कहानियों का विवरण और उनके भाव प्रकाशन, निबन्ध लेखन, मासिक

पत्रिका के लिए सामग्री देना, खाद्यान्न, पशुपक्षी, दूध दही के भोजन आदि के महत्व पर प्रकाश।

गत्ते का काम—गत्ते के काम की चीजों के प्रयोग और लाभ पर प्रकाश डालना व लेख लिखना।

सामाजिक कार्य—व्यक्तिगत व सामूहिक सफाई की आवश्यकता, भोजनालय सम्बन्धी लेख व कविताओं के सहारे शब्द भण्डार की वृद्धि और भाव प्रकाशन सभा, में रिपोर्ट व भाषण, रोग से बचने के उपाय, उपचार आदि साप्ताहिक बैठक में कविता, कहानी, लेख आदि का भाव प्रकाशन।

पाँचवाँ वर्ग

कताई—कपड़े व खादी सम्बन्धी लेख व कविताओं का अध्ययन। चुनी हुई पुस्तकों से सम्बन्धित लेखों व कविताओं का संग्रह करना व नोट लेना।

कृषि बागवानी—कृषि सम्बन्धी कार्यों पर लेख व कविता, कृषक का जीवन परिश्रम का महत्व आदि, सभा में कार्यों का विवरण व कृषि सम्बन्धी कृषक ग्रामीण जीवन में प्रहसन, मासिक डायरी व रिपोर्ट, कृषि सम्बन्धी कार्यों, उत्पादित वस्तुओं और जीव जन्तुओं पर लेख, मासिक पत्रिका की तैयारी।

गत्ते का काम—काम में आने वाले भिन्न-भिन्न सामान व औजारों की प्राप्ति, उनका महत्व आदि।

सामाजिक कार्य—सफाई, भोजन, स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख व कविताओं का अध्ययन, सामाजिक कार्यों का महत्व, मनुष्य जीवन से सम्बन्धित अनेक सामाजिक कार्य और संगठन, सभा संचालन में भावप्रकाशन और युक्ति संगत राय देना, शुद्धता के साथ रिपोर्ट लिखना, साप्ताहिक बैठक में कहानियाँ,

प्रहसन, कविताएँ सुनाना, उत्सव व त्यौंहारों पर सामयिक विषयों के साहित्य का अध्ययन।

इसी प्रकार ऊँचे कक्षाओं में उच्चकोटि के लेख, कविताएं आदि का अध्ययन, मासिक पत्रिका का संचालन, चार्ट बनाना, उत्सवों त्यौंहारों पर तैयारी के लिए सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन और चयन, सभा में संभाषण व प्रभावोत्पादक ढंग से भाव प्रकाशन, सांस्कृतिक जयन्तियों द्वारा साहित्य का अध्ययन, प्राकृतिक दृश्यों का निरीक्षण तथा उनका साहित्यिक गद्य और पद्य में अध्ययन आदि बातों का समावेश किया जा सकता है।

१६

समाज शास्त्र का समवंत शिक्षण

प्रथम वर्ग

कताई—कक्षा की व सामान की सफ़ाई, सामान का उचित बटवारा सामूहिक काम करने का ढंग, सहयोग।

कृषि बागवानी—सामूहिक भावना का विकास, पंक्तिवद्ध होकर व्यवस्था से काम करना, सामान को ठीक प्रकार यथा स्थान रखना, स्थानीय फसलों, पैदावार, शाकभाजी, फल फूल का ज्ञान।

सामाजिक कार्य—भोजन और अल्पाहार व्यवस्था में समुचित ढंग से बैठना, शान्ति रखना, अपने बर्तन व स्थान को साफ करना, पाकशाला के कामों को देखना, सभा में बैठने की रीति सिखाना, त्योहारों और जयन्तियों पर महापुरुषों की जीवन कहानियाँ सुनाना, ग्राम सेवा द्वारा सेवा भाव लाना।

प्रकृति निरीक्षण—चीज़ों को दिखाकर प्रत्यक्ष ज्ञान देना, पदार्थ दर्शक पाठ पढ़ाना, सूर्य, चन्द्र तारों का ज्ञान देना, मौसमी विशेषताएँ बताना, जीव जन्तुओं के निरीक्षण द्वारा उनसे सम्बन्धित ज्ञान देना।

द्वितीय वर्ग

कातना—सामूहिक कार्य की रीति, कपड़े की कहानियों, भिन्न-भिन्न पोशाकों का ज्ञान।

कृषि बागबानी—व्यवस्था पूर्वक सामान रखने और व्यवस्था में काम करने की आदत, यन्त्रों को यथा स्थान रखना व देखभाल, स्थानीय पैदावार।

सामाजिक कार्य—ऊपर की भाँति भोजन के समय का आचरण, व्यक्तिगत और सामूहिक सफाई, रोगी के साथ प्रेम का वर्ताव, सभा में शान्ति पूर्वक बैठना, कक्षा प्रथम की भाँति त्योहारों पर कथाएँ व प्रहसन की योजना, सेवा कार्य।

प्रकृति निरीक्षण—कक्षा प्रथम की भाँति पदार्थ पाठ, आकाश विद्या, मौसम व जीवधारियों का निरीक्षण।

तृतीय वर्ग

कातना—कपास की खेती का निरीक्षण, कपास के पौदे व कपास के लिये मिट्टी का निरीक्षण।

कृषि बागबानी—कृषि व बागबानी का नक्शा तैयार करना, भिन्न-भिन्न फसलों के लिए मिट्टी का ज्ञान।

कागज व गत्ते का काम—कागज बनाने की चीजें, साधन और बनाने के स्थान कागज की किस्में।

सामाजिक कार्य—पाठशाला की सफाई में भिन्न-भिन्न कामों में भाग लेना, भोजन व जलपाहार में बनाने में साधारण योग देना व परोसने में भाग लेना, शरीर व अंगों की सफाई, सफाई के साधनों का ज्ञान, रोगी की सेवा शुश्रूषा, पाठशाला के मंत्रि मण्डल के चुनाव द्वारा राजनीतिक कामों का ज्ञान। उत्सवों पर महापुरुषों की जीवनियों का ज्ञान व उनके लक्षणों का उल्लेख।

प्रकृति निरीक्षण—जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र से लाभ, आकाश मंडल में सूर्य चन्द्रमा व तारों से लाभ व हानि, मौसमों व फसलों का ज्ञान, पशु, पक्षी जीवजन्तु आदि से मनुष्य को लाभ हानि।

चतुर्थ वर्ग

कातना—कपास के पौदे का सूक्ष्म निरीक्षण, कपास को मिट्टी व जलवायु की आवश्यकता, भिन्न-भिन्न प्रकार का कपास।

कृषि कार्य—फसलों, मिट्टी व जलवायु का सम्वन्ध, खेतों द्वारा, ग्राम जिला प्रान्त और देश का भूगोल।

सामाजिक कार्य—भोजनालय सम्वन्धी कार्य, सामूहिक सफाई कार्य का उत्तरदायित्व, रोगी के घर की व्यवस्था, निर्वाचन, मताधिकार, शासन, सरकार आदि का ज्ञान लोकसभा द्वारा। सभा का संगठन, उत्सवों के समय ऊपर के कक्षाओं की भाँति अधिक गम्भीर अध्ययन

प्रकृति निरीक्षण—ऊपर के कक्षा की भाँति नदी पहाड़ आदि का विशेप अध्ययन और मनुष्य जीवन पर प्रभाव। इसी प्रकार आकाश व जीवधारियों का विशेप अध्ययन। मौसमी पैदावार व मौसम का प्रभाव।

पाँचवाँ वर्ग

कातना—भारत में कपास की खेती, कपड़े का इतिहास, कपड़े का व्यवसाय व उसके द्वारा भिन्न-भिन्न कालों का इतिहास।

कृषि कार्य—फसलों के वोने और काटने का मौसम, स्थानीय ग्राम द्वारा जिले प्रान्त और देश का भूगोल, जाति विशेप का भोजन व संस्कृति उपज और यातायात के साधन।

सामाजिक कार्य—सामूहिक कार्यों में सहयोग, उत्तरदायित्व, सामूहिक सफाई द्वारा समाज की भलाई, रोगी का पथ्य वनाना व देखभाल, वीमारियों से

वचना व रोकथाम, मंत्रियों के कर्तव्य व अधिकार. नागरिकता प्रजातन्त्र आदि, उत्सवों पर सामाजिक. आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का विवरण. पुरानी संस्कृति, महापुरुषों का त्याग व सेवा ऐतिहासिक पर्वों द्वारा भारत का इतिहास।

प्रकृति निरीक्षण—प्रान्त और देश की बनावट, जलवायु. जनसंख्या यातायात आदि, सूर्य के द्वारा दिन रात होना, चन्द्रमा का घटना बढ़ना, आदि—

इसी प्रकार ऊपर के कक्षाओं में वर्गों की समस्या. आर्थिक प्रश्न, ग्रामोद्योग और खादी, विभिन्न लकड़ियों, आबोहवा व जंगलों का वर्णन व नक्शों का अध्ययन, भोजन द्वारा स्थानीय भूगोल, भाव गिरना बढ़ना, सिक्कों का ज्ञान ऐतिहासिक कालों का वर्णन, राशनिंग कन्ट्रोल, दवा के ज्ञान के साथ भिन्न-भिन्न समय की चिकित्सा रोगी सेवा द्वारा महापुरुषों की जीवनी. साम्राज्य बनाने वाले राजा महाराजा का इतिहास, लोक सभा. विधान सभा, प्रधान मन्त्री, सभापति आदि का ज्ञान. पुरानी संस्कृति व सर्व धर्म एकता आर्थिक विकास. सभ्यता. ऋतु परिवर्तन. कटिबंध, विश्व के जीवधारी व क्रमिक विकास का इतिहास का ज्ञान दिया जा सकता है।

२०

सामान्य विज्ञान की समवेत शिक्षा

प्रथम वर्ग

कताई का काम—कपास का निरीक्षण व उसके भिन्न-भिन्न भागों के नाम।

कृषि कार्य—फसलों, फलों और तरकारियों के पौधों का अध्ययन, पौधों को नष्ट करने वाले कीड़े, धूप सर्दी गर्मी हवा का प्रभाव।

सामाजिक कार्य—बर्तन साफ़ करने में राख का कार्य, भोजन के सामान का पर्यवेक्षण, बर्तनों को साफ करने के लाभ, शरीर की सफाई, कपड़ों की सफाई, गांव की गंदगी से परिचय कराना।

प्रकृति निरीक्षण—नदी, पहाड़, समुद्र, जीव, लकड़ी, पत्थरों का निरीक्षण, आकाश में सूर्य चन्द्र की भिन्न-भिन्न अवस्था, मौसमी ज्ञान, जीवों का निरीक्षण।

द्वितीय वर्ग

कातना, कृषि कार्य—कक्षा प्रथम की भाँति विशेष अध्ययन।

सामाजिक कार्य—भाजी को पानी से साफ करना व काटना, पानी को छानकर पीना, सफाई के साधनों का ज्ञान, ग्राम सफाई।

प्रकृति निरीक्षण—जीव, पत्थर, लकड़ियों की विशेषताएँ, तारों के नाम व उनसे दिशा का ज्ञान, सूर्य चन्द्रमा से दिशा ज्ञान, पूर्णमासी, अमावस्या, भिन्न-भिन्न जीवों में अन्तर।

तृतीय वर्ग

कताई—कपास के लिए मिट्टी, मौसम का ज्ञान।

कृषि—पौधों को पानी, रोशनी हवा की आवश्यकता, पौधों के भिन्न-भिन्न भागों का कार्य।

सामाजिक कार्य—पानी में गंदगी, साफ करने के उपाय, साफ बर्तनों का महत्त्व, साफ जगह से लाभ, रोगी की सेवा द्वारा रोगों से परिचय व बचने के उपाय, छूत के रोगों में सावधानी, उपवास की आवश्यकता।

प्रकृति निरीक्षण—पहाड़, नदी व समुद्र का जलवायु पर प्रभाव, ऋतुओं का वस्तुओं व जीवधारियों पर प्रभाव, जीवों का वर्गीकरण।

चतुर्थ वर्ग

कातना—कपास के बोने व चुनने का समय, कीड़ों का ज्ञान व बचाव।

कृषि—खाद की आवश्यकता व खाद के भिन्न-भिन्न तत्वों का ज्ञान, जड़ों का कार्य, जमीन का जोतना, आदि।

सामाजिक कार्य—भोजन में क्या क्या चाहिये, किस तरह के बर्तन में पकाना चाहिये, शुद्ध हवा के लाभ, नालियों की सफाई, वायु का अशुद्ध होना, ताप नापने यंत्र व देखने की रीति।

प्रकृति निरीक्षण—सर्दी, गर्मी हवा व वर्षा, सूर्य की किरणों का प्रभाव, ग्रहों का प्रारम्भिक ज्ञान, भिन्न-भिन्न जीवों के अंगों की व्याख्या।

पाँचवाँ वर्ग

कताई—खादी की रंगाई, छपाई द्वारा रंगों का ज्ञान।

कृषि—ओस, कोहरा का ज्ञान। हवा, ताप व वर्षा के चार्ट।

लकड़ी व गत्ते का काम—जिल्द साजी में विभिन्न रंगों को बनाने का तरीका, लेई बनाते समय गर्मी से फैलने व सर्दी से सिकुड़ने का ज्ञान, कागज व गत्ता बनाने की क्रिया।

सामाजिक कार्य—वैज्ञानिक चूल्हे, हवा की बनावट, आक्सीजन, कार्बन, गर्मी बर्तनों की धातुओं का ज्ञान, पानी साफ करने की रीतियाँ नाली की सफाई व मच्छरों से बचाव, धूल से नुक्सान व नाक से सांस लेना।

प्रकृति निरीक्षण—जड़ी बूटी, सामुद्रिक जीवों व किस्म-किस्म की लकड़ियों की जांच हवा की दिशा, बहने का कारण व दबाव, चट्टानों का निरीक्षण, चन्द्रमा द्वारा ज्वार भाटा, गर्म होने के तरीके, जीवों के क्रमिक विकास की अवस्था।

इसी प्रकार उच्च वर्गों में भी समवाय की निम्नलिखित योजना की जा सकती है:—

तकली व चरखे की गति व पट्टियों का काम, तराजुओं का ज्ञान व सिद्धान्त, रंग बनाने में रासायनिक क्रिया, पानी खींचने के साधन, पम्प का कार्य, भोजन तत्त्व, पचने की क्रिया, मल मूत्र में रासायनिक क्रिया, घनत्व, धातुओं का ज्ञान, हवा की बनावट व आवश्यकता, गर्मी का प्रभाव, दबाव की शक्ति, धातुओं की मिला-

वट, धातुओं पर खटाई व तेजाव का प्रभाव, आग की उत्पत्ति व
भिन्न-भिन्न उपाय, पाचन क्रिया, रक्त संचालन, भोजन तन्त्र व रेनो·
रिक ज्ञान कीटाणु, निरोग व रोगी के मल मूत्र में भेद, पोटाशियन,
ब्लीचिंग पाउडर, फेनाइल का उपयोग, मल मूत्र का उपयोग. रोगी
के पथ्य, प्राथमिक चिकित्सा, औषधियों और फलों का उपयोग,
सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, दूध पिलाने वाले व बिना दूध पिलाने वाले
जीवों मे भेद, जीवों की प्राण रक्षा के साधन।

———

२१

कला का समवेतज्ञान

प्रथम वर्ग

कातना—कपास के भिन्न-भिन्न भागों की चित्रकारी।

कृषि—पौधों फूल, फलों व पत्तियों द्वारा रंगों का ज्ञान।

गत्ते के काम—रेखा खींचना, आकार बनाना।

सामाजिक कार्य—बर्तनों को सुन्दर ढंग से रखना, सफाई के पश्चात् सामान व्यवस्था से यथा स्थान रखना व सजाना, सभा भवन को सजाना सभा में आसनें सजाकर बिछाना, गॉव के घरों की चित्रकारी का अध्ययन कराना।

प्रकृति निरीक्षण—पहाड़ नदी जंगल के सामान से संग्रहालय सजाना

द्वितीय वर्ग

कातना—तकलियों व चरखों के भिन्न-भिन्न भाग के नक्शे बनाना।

कृषि—भिन्न-भिन्न पत्तियों के आकार प्रकार, रंग, लम्बाई चौड़ाई से परिचय, फूलों के तरह-तरह के रंग, कीड़ों व तितलियों के रंग।

सामाजिक कार्य—सफाई व सजावट, काम की चीजों को सजाकर रखना, पत्तों व फूलों से वन्दनवार आदि बनवाना।

प्रकृति निरीक्षण—परों, पंखों, पत्तों आदि का संग्रह करना।

तृतीय वर्ग

कातना—भिन्न-भिन्न रंगों को मिलाने का ज्ञान देना, कताई वर्ग को सजा कर रखना, कताई की चीजों का चित्र बनाना।

कृषि—कीड़ों व तितलियों की चित्रकारी, खेती बागवानी का दृश्य रंगों की सहायता से, फलों का रंगों द्वारा चित्र।

गत्ते का काम—चीजों की तस्वीर बनाना लकड़ी की बनी चीजों के चित्र बनाना।

सामाजिक कार्य—बर्तनों को सजाकर रखना, उनके चित्र बनाना, गायन व नृत्य, वाद्यों के नाम, सभा भवन की सजावट में सहायता, लोकगति व लोक नृत्य सामूहिक ढंग से, संग्रहालय के सामान के चित्र बनाना, चित्रों का संग्रह करना।

चतुर्थ वर्ग

कातना—ऊपर के कक्षा की भाँति विस्तार सहित।

कृषि—फूलों से सजावट, बाग व खेतों का नक्शा खेल का ज्ञान।

गत्ते का काम—कागज व लकड़ी को रंगना, चीजों की तस्वीरें बनाना व सामान को सजाकर रखना।

सामाजिक कार्य—सामूहिक गति व नृत्य, सफाई सम्बन्धी गाने, ताल युक्त गानों के साथ सामूहिक कार्य, उत्सवों में अल्पना करना और दीवारों को सजाना।

पाँचवाँ वर्ग

कातना—भिन्न-भिन्न डिजाइन, पोशाकों के चित्र व प्रदर्शिनी बनाना

कृषि—पेड़ पौधों, खेतों, बाग बगीचों, फूल फलों, और प्राकृतिक सौन्दर्य की चित्रकारी।

सामाजिक कार्य—सफाई के काम में आने वाले चीजों के चित्र, भिन्न-भिन्न [illegible] में चित्र, उत्सवों के सजावट, स्टेज बनाना गायन वादन व नृत्य।

इसी प्रकार की योजना उच्च वर्गों में की जा सकती है। शिक्षक इसको किसी प्रकार भी सम्पूर्ण सूची न समझे यह तो संकेतात्मक ही है। चैतन्य मस्तिष्क से पाठशाला के भिन्न-भिन्न कार्यों का अध्ययन शिक्षक में समक्ष अधिक से अधिक अवसर प्रस्तुत करेगा। यथा समय अवसर की आवश्यकता का उपयोग कर लेना सफल समवाय की कुंजी है। पाठशाला के जिस कार्यक्रम से स्वभाविक रूप से समवाय किया जा सके उसी का लाभ उठाना चाहिए। किसी एक ही विषय के आश्रित बैठे रहना स्वभाविकता पैदा नहीं करेगा। यह समवाय द्वारा शिक्षण ही एक स्वयं कला है जिसका उपयोग कलात्मक ढंग से कलाकार शिक्षक ही कर सकेगा।

२२

पाठ्य क्रम

मनुष्य जाति के वर्षों के संग्रहीत अनुभव को ही वातावरण कहते हैं। बालक को इसी वातावरण के अनुकूल बनाना शिक्षा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन पाठ्य क्रम ही है। पाठ्य क्रम मनुष्य जाति के इन संग्रहीत अनुभवों का ही छोटा रूप है। पाठ्य क्रम ही हमारे सामाजिक आदर्शों को प्रकाशित करता है और साथ ही साथ उन आदर्शों की प्राप्ति का साधन भी है। पाठ्य क्रम ही के द्वारा देश के भावी राष्ट्र निर्माता और भारवाहकों के मस्तिष्क का निर्माण होता है। जैसे शरीर को भोजन है वैसे ही मस्तिष्क और चरित्र निर्माण को पाठ्य क्रम है। इसी पाठ्य क्रम द्वारा बालक को मनुष्य जाति के शताब्दियों से संग्रहीत अनुभव का उसके भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण द्वारा ज्ञान कराया जाता है।

पाठ्य क्रम निर्माण के समय निम्नलिखित बातों का विचार किया जाना आवश्यक है:—

(१) बालक को मनुष्य जाति के संग्रहीत अनुभव का ज्ञान कराया जा सके। शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि कोई भी दूसरा साधन इससे अच्छा नहीं है कि बालक को क्रमशः उन श्रेणियों में होकर गुजरने दिया जाय जिनसे सारी मनुष्य जाति ने उन्नति की है।

(२) भविष्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखा जाय जिससे नागरिकता के उत्तम गुणों का उदय हो और स्वस्थ लोकतन्त्र की नीव पड़े। मनुष्य को अपने अवकाश का सदुपयोग करना सिखाना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

(३) बालक की सृजनात्मक शक्ति के विकास के साधन दिये जा सके। सृजनात्मक शक्ति के उपयोग द्वारा ही मनुष्य अपने आन्तरिक भावों को वाह्य स्वरूप देता है और आत्मा को प्रकाश में लाता है।

(४) बालक की प्रकृति के अनुसार उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आज की शिक्षा का केन्द्र बालक ही माना गया है। बालकों की भिन्न-भिन्न अवस्था के विकास के क्रमानुसार शिक्षण की योजना बनाई जाय क्योंकि बालक मनुष्य का एक लघु रूप मात्र नहीं है। उसकी स्वयं की विशेषताएँ हैं जो मनुष्य की विशेषताओं से भिन्न हैं। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के पैमाने से बालक की आवश्यकताओं को नापना भूल है।

(५) पाठ्य क्रम द्वारा बालक को उन परिस्थितियों में रहने का प्रत्यक्ष अनुभव हो जिनके द्वारा वे समाज में आने वाली समस्याओं का व्यवहारिक हल निकाल सकें और समाज की प्रगति में हाथ बटा सकें।

इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए पाठ्य क्रम में सम्मिलित किये जाने वाले विषयों को निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं:—

(१) पाठ्य क्रम में अनेक विषयों की अनावश्यक भरमार न हो।

(२) मौलिक आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक विषयों का कम से कम ज्ञान अवश्य हो। सामाजिक स्वावलम्बन के साथ व्यक्तिगत स्वावलम्बन का भी ध्यान रखा जाय।

(३) पाठ्यक्रम इतना विस्तृत अवश्य हो कि प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनकर अपनी विशेषताओं को विकसित करने और सम्पूर्ण करने का अवसर मिल सके।

(४) नीचे की श्रेणी से ऊँची श्रेणी के लिये क्रमबद्ध रूप से मानसिक विकास के अनुसार सरल से कठिन की ओर जा सकें।

(५) उसके द्वारा ज्ञान संपादन का क्रम लगातार जारी रखा जा सके।

(६) उसमें लचीलापन हो। बालकों की आवश्यकता, रुचि मूल प्रवृत्ति और वातावरण के अनुसार उसमें हेर-फेर किया जा सके।

(७) उसमें नगर की और ग्रामों की आवश्यकता के अनुसार हेर-फेर की गुञ्जाइश हो।

(८) उसमें जीवन की समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इसका साधन पाठशाला के जीवन को ही सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि बनाना होगा।

(९) उसमें बालकों की क्रियात्मक तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति के उपयोग का ध्यान रखा गया हो।

(१०) स्त्री जाति और पुरुष जाति की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार विषय निर्धारित किये गए हों।

(११) बालकों के पूर्ववर्ती ज्ञान का क्रमानुसार उपयोग किया जाने की गुञ्जायश हो।

(१२) एक विषय का दूसरे विषय से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। विशेषकर सृजनात्मक कार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों का एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़े जाने की गुंजायश हो। ऐसे कामों में अवश्य ही स्वाभाविक रूप से भिन्न भिन्न विषयों के सम्बन्ध जुड़ जाता है। इनके अतिरिक्त ये सिद्धान्त विचार मनन करने योग्य हैं।

शिक्षा को जो एक प्राकृतिक विकास ही समझते हैं वे बालक की प्रकृति के ही परिष्कार पर अधिक बल देते हैं। इसके अतिरिक्त जो आदर्शों तथा उनके माप दण्डों पर जोर देते हैं उनके समस्त समाज की आवश्यकतायें अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें आधुनिक शिक्षा शास्त्री जॉन ड्यूई बालक ही को महत्व देने के पक्षपाती हैं। उनका मत हैं कि पाठ्यक्रम बालक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अनुसार ही निर्धारित किया जाना चाहिये। उसकी अवस्था और रुचि के विकास के अनुसार ही उनमें भी परिवर्तन करते रहना आवश्यक है।

दूसरे शिक्षा शास्त्री जन सभ्यता के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक समझते हैं कि बालक का विकास उसी दिशा में होना चाहिए जिधर समाज चाहता है। इनके मतानुसार मस्तिष्क की तीनों क्रियाओं जानना, अनुभव करना, प्रयोग करना के अनुसार बालकों की रुचि के भी तीनों केन्द्र है हाथ की शिक्षा, मस्तिष्क की शिक्षा और हृदय की शिक्षा। अतः इसी आधार पर रास के मतानुसार (१) प्रकृति विज्ञान, (२) हस्तकौशल्य और (३) समाज विज्ञान पाठ्यक्रम के अंग होना चाहिए।

जन में मतानुसार दो विभाग किये गए हैं (१) व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की रक्षा की शिक्षा (२) सृजनात्मक कार्य। पहिले भाग में स्वास्थ्य, सफाई, व्यवहार, चरित्र गठन, सामाजिक संगठन, नैतिक, धार्मिक सम्बन्धी क्रियाएँ सम्मिलित है। दूसरे भाग में भाषा, कला, हस्तकौशल्य, सामान्य विज्ञान, सामाजिक विज्ञान। इतिहास और भूगोली सम्मिलित है।

इन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की तराजू पर रख कर अब देखना है कि बुनियादी शिक्षा में पाठ्यक्रम के पुर्ननिर्माण की आवश्यकता क्यों पड़ीं।

(१) पुरानी पद्धति ने बालकों के मस्तिष्क को केवल पुस्तकी ज्ञान से लाद दिया जिसमें व्यावहारिकता की बड़ी कमी रही।

(२) बालकों में केवल बौद्धिक विकास पर ही जोर देने से उनमें से श्रम करने की आदत जाती रही। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी दोनों भिन्न-भिन्न वर्ग बन गए। एक दूसरे में सहानुभूति और सहयोग के स्थान पर भेद भाव बढ़ता गया।

(३) सामाजिक जीवन, सामाजिक आवश्यकता, उच्च आदर्श और चरित्र निर्माण के समुचित साधन उपलब्ध न हो सके।

(४) इससे व्यक्तित्व का विकास न हो सका। उनमें आत्म-विश्वास, आत्म निर्भरता, नेतृत्व के गुणों का विकास नहीं हो पाया।

(५) सामाजिक सेवा की भावना जागृत न हो सकी जिसके द्वारा समाज और राष्ट्र के प्रति सेवा और सम्मान के भाव जागृत हो सकते और स्वतन्त्र राष्ट्र की भाँति अनुशासन भी रह सकता।

अत: पाठ्यक्रम में किन-किन बातों का समावेश किया गया:—

(१) दस्तकारी या मूलोद्योग को शिक्षा का साधन बनाया गया। अन्य विषयों की शिक्षा समवाय पद्धति द्वारा इसी मूलोद्योग की क्रियाओं पर आधारित रखी गई।

(२) मूलोद्योग के आश्रय से बालकों में स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता के विकास के साथ शिक्षा को सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया गया। सार्वजनिक शिक्षा ही लोकतन्त्र की आधार शिला है।

(३) बालकों में भविष्य के उद्योग की भूमिका उनके विद्यार्थी जीवन में डाल देने की योजना बनाई गई।

(४) प्रान्तीय भाषा शिक्षा का साधन हो और राष्ट्र के एकीकरण के लिए राष्ट्र भाषा का भी अध्ययन किया जाए।

उपर्युक्त आधार पर बुनियादी स्कूलों की पाठ्य योजना में निम्न-लिखित चीजों का समावेश आवश्यक समझा गया।

(१) दस्तकारी, कताई बुनाई, कृषि, बागवानी, बढ़ईगिरी, मिट्टी, चमड़े, गत्ते और धातु का काम और [illegible] काम।

(२) मातृ भाषा।
(३) गणित।
(४) समाज शास्त्र (इतिहास, भूगोल व नागरिक शास्त्र)।
(५) सामान्य विज्ञान।
(६) कला (चित्रकारी, संगीत और मनोविनोद)।
(७) खेल और शारीरिक व्यायाम।
(८) हिन्दुस्तानी।

भिन्न-भिन्न विषयों का उद्देश्य जिसकी पूर्ति इस ८ वर्ष की निर्धारित अवधि में होना चाहिए:—

मातृ भाषा—की समुचित शिक्षा ही सारी शिक्षा की नींव है। इसी के द्वारा बच्चे को अपने देश के विचारों, भावनाओं और आकांक्षाओं का ज्ञान होता है। इसके द्वारा बालक में अपने विचारों को दूसरे पर स्पष्टता के साथ प्रगट करने की और दूसरे के विचारों को समझ सकने की योग्यता आ जाना चाहिए। साधारण छपे हुए प्रकाशनों, गद्य और पद्यों को पढ़कर उनका रसास्वादन ले सकें। लिखने की गति अच्छी हो व लेखन शुद्ध हो। सभा की रिपोर्ट और घरेलू पत्र, लिख सकें। प्रतिष्ठित लेखकों की रचनाओं से प्रेम हो।

गणित—घरेलू काम, धन्धे और सामाजिक जीवन के सिलसिले में काम में आने वाले हिसाब किताब आसानी से कर सकें।

सामाजिक विज्ञान—मानव जाति की विशेषकर हिन्दुस्तान की प्रगति में रुचि उत्पन्न करना। अपने समाज और भौगोलिक हालत को समझ कर सुधार कर सकें। अपने देश के प्राचीन युग का सम्मान करें और भावी युग के न्याय, सहानुभूति के आधार पर निर्माण में विश्वास रखें। नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान हो

सामाजिक सद्भावना उत्पन्न हो जिससे एक दूसरे की सहायता कर सकें। संसार के सब धर्मों के प्रति आदर भाव हो।

साधारण विज्ञान—प्रकृति की चीजों का बुद्धि के साथ निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग के साथ अनुभव करना और उसमें आनन्द लेना। प्रकृति को मनुष्य ने विज्ञान की सहायता से कहाँ तक अपने काम में लिया है। वैज्ञानिकों ने सत्य की खोज में कितनी तपस्या और त्याग से जन सेवा की है।

चित्रकला—आँख को रूप व रंग के भेद पहिचानने की शक्ति देना। आकृतियों के पहचानने की आदत पैदा करना। प्रकृति और कला की सुन्दरता के आनन्द लेने की आदत बनाना। सजावट की रुचि पैदा करना। जीवन की प्रत्येक क्रिया में कला द्वारा सुन्दरता प्रदान करना।

संगीत—संगीत के प्रति अनुराग। लय और ताल का बोध। सामूहिक गायन का आनन्द लेना। गानों के चुनाव में अच्छी रुचि का परिचय देना। मनोरंजन का साधन प्राप्त करना।

हिन्दुस्तानी—देश की आम भाषा को समझ कर एक दूसरे प्रान्त के साथ आसानी से काम कर सकें। इस भाषा के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषा के साथ देश की एकता का भाव जागृत हो।

२३

मूलोद्योग खेती तथा कताई

भारतवर्ष ग्रामों का एक खेतिहर देश है जिसमें ८७ फीसदी लोगों का जीवन खेती ही पर निर्भर है भारत की आदि-कालीन सभ्यता और संस्कृति का दर्शन भी इन्हीं कृषकों में मिलता है। समाज विज्ञान के शास्त्रियों की नवीन खोज द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि मानव जाति की सभ्यता दीर्घकाल तक ग्रामों में ही अक्षुण्ण रह सकी है। अतएव भारती जीवन का कृषि-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है और आवश्यकता की दृष्टि से भी खाद्य-उत्पादन हमारी वुनियादी आवश्यकताओं में से एक है।

खेती मानव-जीवन को तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को अनेक पहलुओं पर छूती है। उसमें जमीन का अध्ययन तथा सुधार, उसकी उत्पादक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न, फसल की आवश्यकतायें उसका क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान, खेती-सम्बन्धी जानवरों व जीव-धारियों के जीवन का अध्ययन और अभिव्यक्ति द्वारा अनेक विषय उसके अंगीभूत हो जाते हैं। भूतत्व-विज्ञान, रसायन, भौतिक विज्ञान, सामाजिक विद्या, शरीर-रक्षा, शुश्रूषा, और औषधियों आदि द्वारा ज्ञान की भिन्न शाखाओं का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

स्कूल और उसके बच्चों को, देहाती समाज से अत्यन्त सुगमता के साथ-स्वाभाविक रूप में खेती जोड़ देती है। जहाँ आज की केवल पुस्तकी शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् उनमें कृषि तथा ग्रामों

की ओर उदासीनता के भाव भर देती है जिससे उनके ग्रामीण जीवन में सरसता की जगह नीरसता उत्पन्न हो जाती है। अपने पालकों को सहायक होने के बदले वह भार-स्वरूप हो जाते हैं। जहां खेती की शिक्षा से स्वावलम्बन में वृद्धि हो सकती है वहां आज की शिक्षा से उनमें उदासीनता उत्पन्न होकर बेकारी की समस्या दिन-प्रति-दिन भीषण रूप धारण कर लेती है।

खेती के काम में जहां बालकों के दिमागों और हाथों का विकास होता है वहां हृदयों का भी। खेती का काम बिना परस्पर सहयोग और भ्रातृभाव के नहीं हो सकता, इसलिये इस उद्योग से द्वेष के बदले सहयोग की भावना का उदय होता है और उनमें सहयोग और नागरिकता के सिद्धांत आसानी से प्रवेश कर जाते हैं, उनमें तत्परता और अनुशासन की भावनाएं जागृत होती हैं।

यदि स्कूलों में खेती का काम हो तो ग्राम का जीवन भी रोचक बनाया जा सकता है। पाठशाला संपूर्ण ग्राम की शिक्षा का स्वाभाविक केन्द्र बन जाता है। बच्चे ग्रामीणों की और ग्रामीण बच्चों की सहायता करते हैं। उन्हें उत्सव और त्यौहार आनन्द से मनाने में सामाजिक शास्त्र की शिक्षा मिलती है।

खेती के काम में बच्चा सदा प्रकृति के समीप रहकर उसके आनन्द का तथा स्वस्थ जलवायु का लाभ उठाता रहता है। खेती का परिश्रम उसके शरीर को बलवान बनाता है। खेती द्वारा उसको शिक्षा का साधन बनाने से बौद्धिक तथा शारीरिक उन्नति होती है। प्रकृति के समीप रहने से उनमें गुण और सौन्दर्य भावों का उदय होता रहता है। जीवन की सरलता रहती है। वे प्रकृति तथा समाज के सम्पर्क में आकर खेती द्वारा उनसे सम्बन्ध जोड़ते हैं।

खेती द्वारा बच्चे व पाठशाला दोनों ही स्वावलम्बी हो सकते हैं। किन्तु खेती को उद्योग लेकर चलने वाले स्कूलों का खर्च शुरू का [illegible] बहुत ज्यादा होगा लेकिन यह [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] में

निकाला जा सकेगा। इस ओर प्रवृत्त करने के लिये पहले बाग़वानी के काम से छोटे पैमाने पर शुरू किया जा सकता है। बच्चे आसानी से शाक-भाजी तथा फ़ल-फूल पैदा कर लेंगे।

अभिव्यक्ति विभाग में ग्राम गीत, चित्र-कला, ग्रामीण नृत्य, नाटक आदि आ जाते हैं। किसानी जिंदगी में बालक की सौंदर्य भावनाएँ जगाने और शिक्षा की अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा विकास करने की पूरी क्षमताएं हैं। इससे स्पष्ट है कि बुनियादी तालीम में आने-वाले सभी विषयों का खेती के साथ, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक अनुबन्ध हो सकता है।

— —

अब इसी प्रकार की एक दृष्टि हाथकताई के उद्योग पर डाल कर हम यह देखेंगे कि उपयोगिता की कसौटी पर वह कहाँ तक ठीक उतर सकती है।

१—उसका आरम्भ करने के लिये न तो अधिक धन की आवश्यकता है और न बड़े-बड़े औज़ारों की। कच्चा सामान और औज़ार दोनों ही आसानी से प्राप्त हो सकते हैं। औज़ार तो आसानी से बनाये या बनवाये भी जा सकते हैं जिसके द्वारा स्थानीय कारीगरों को काम भी मिल सकता है और उनके काम में विकास भी हो सकता है।

२—इस कच्चे सामान तथा साधारण औज़ारों से काम करने में आरम्भ में इतनी भारी बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहां की ग़रीब व निरक्षर जनता भी उससे लाभ उठा सकती है।

३—उसमें इतने कम शारीरिक श्रम की आवश्यकता होती है कि क्या बच्चे, क्या स्त्री, क्या पुरुष, जवान अथवा वृद्ध कोई भी इसका अभ्यास करके अपने अवकाश का सदुपयोग कर परिवार के कोष में कुछ न कुछ मिला सकता है।

४—भारतवर्ष में इसका आरम्भ तथा प्रचार करने को कोई

भूमिका की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह यहां का प्राचीन उद्योग ही रहा है और अब भी लोगों में स्थान पाये हुए हैं।

५—यह विश्वव्यापी है और स्थायी है। भोजन के पश्चात् मनुष्य की आवश्यकताओं में दूसरा नम्बर वस्त्र का ही आता है यह किसान का बेकार समय का साथी बनकर उसकी जीविका की धारा का बराबर पोषण करता रह सकता है।

६—खेती की भांति यह वर्षा पर अवलम्बित नहीं है इसलिये वह अकाल तथा दुष्काल के समय भी चलता रखा जा सकता है व अकाल की तंगी को भी दूर कर सकता है।

७—वह मनुष्यों की धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं के अनुकूल है।

८—इसके द्वारा काम एक-एक झोंपड़ी तक तथा एक-एक व्यक्ति तक पहुँच जाता है। इसके द्वारा परिवार में संगठन रहता है। कुटुम्ब में आर्थिक संकट के समय तोड़-फोड़ नहीं होने पाता।

९—वह जैसा कि हाथ बुनाई करने वाले का आधार है वैसा ही किसान की भी बेकारी का सहारा है। वह हाथ बुनाई के उद्योग को स्थायी सहारा दे सकता है जो कि वर्तमान दशा में ८ से १० लाख भारत की जनता के जीविकोपार्जन का सहारा है और भारत को जो लगभग एक तिहाई वस्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

१०—इस ग्रामोद्योग की जागृति के साथ ही साथ इससे सम्बन्धित तथा अन्य ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन मिलकर उनका भी उत्थान होगा जिनके द्वारा ग्रामों की उन्नति होगी और वह नष्ट होने से बचाये जा सकेंगे।

११—विकेन्द्रीकरण के साधनों में से होने के कारण भारतवर्ष के लाखों निवासियों में धन का समान वितरण होकर समाज में समानता तथा न्याय की नींव जमाई जा सकेगी जो कि समाज के जनतन्त्र-रचना की आधार शिला है।

१२—इसी के द्वारा बेकारी की समस्या का भी हल निकाला जा सकेगा। वह केवल किसान का ही अल्पकालीन अवकाश के सदुपयोग करने का साधन मात्र न होगा बल्कि वह कई शिक्षितों के भी जीवनोपार्जन का साधन बन सकता है जो उद्योग की खोज में मारे-मारे घूमते हैं। इस मूलोद्योग में सुधार और उन्नति की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि इसको भी अधिक से अधिक पढ़-लिखे लोग अपनावें जिससे इसमें उनकी बुद्धि के द्वारा सुधार हो और इसकी उत्पादक शक्ति बढ़ाई जा सके।

इस प्रकार कताई-बुनाई को बुनियादी दस्तकारी चुनने से भूगोल, इतिहास, कृषि, गणित, अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयों के ज्ञान-प्राप्ति का अवसर मिलता है। रुई को पैदा करके कपड़े बनाने तक की क्रियाओं में विकास का क्रम है जिसको द्वारा क्रमानुसार उनका उपयोग नीचे की श्रेणी से ऊँची श्रेणी तक किया जा सकता है और इस प्रकार का सात वर्ष का अभ्यासी बालक कितना स्वावलम्बी बन कर निकलेगा इसको तो प्रयोगों के प्रत्यक्ष आँकड़े ही स्पष्ट करते हैं।

२४

रसोई द्वारा समवेत ज्ञान

बुनियादी शिक्षा केन्द्रों पर रसोई का काम शिक्षा का अंग सुन कर क्या तो नये आये हुए शिक्षार्थियों को और क्या इस बुनियादी शिक्षा की पद्धति से अनभिज्ञ लोगों को कम आश्चर्य नहीं होता है। कभी-कभी तो ऐसे लोगों की अल्पज्ञता के कारण वह उपहास का भी कारण बन जाता है। किन्तु उपहास की वस्तु यह कार्य-क्रम नहीं है वह तो है उनकी बुद्धि की संकीर्णता जिसके कारण इसका शैक्षणिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

भोजन हमारी बुनियादी आवश्यकताओं में से है। बुनियादी आवश्यकता की पूर्ति के लिये जो शिक्षा है वही बुनियादी शिक्षा है। इसको कौन स्वीकार नहीं करेगा कि भोजन हमारे जीवन का एक आवश्यक अङ्ग है। जिस वस्तु का हमारे जीवन से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है उसका हमारी शिक्षा से सम्बन्ध न हो यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। शिक्षा की परम्परा में भी तो हमारे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की खोज के ही कारण शिक्षा के भिन्न-भिन्न विषयों व शाखाओं की नीव पड़ी है। अग्नि का आविष्कार हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति का ही एक प्रमाण है। हम आगे चलकर देखेंगे कि भोजन सम्बन्धी क्रियाओं का ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं से क्या सम्बन्ध जुड़ता है और इस भोजन बनाने की प्रक्रिया में स्वभाविक रूप से ही कितना ज्ञान एक दूसरे

से जुड़कर प्राप्त होता रहता है। क्या यह जीवन की क्रिया जीवनोपयोगी शिक्षा का साधन नहीं बनाई जा सकती है? यदि बनाई जा सकती है तो बुनियादी शिक्षा का यही स्वभाविक क्रम रहा है।

हमारे देश में यह काम स्त्रियों के ही बटवारे में आया है। धीरे-धीरे पुरुषों ने अपने को इस तरफ से बिलकुल ही खींच लिया और इस प्रकार के घरेलू उद्योगों में, जिनका हमारे जीवन से निकटतम सम्बन्ध है, हाथ बँटाना पुरुष अपने सम्मान के विरुद्ध समझने लगे। इस प्रकार के कामों में उनकी पूरी उदासीनता व उपेक्षा रहती रही है। परिणाम यह हुआ कि यह काम अपने ही ढंग से चलते रहे और उनमें विकास व सुधार नहीं किया जा सका। एक तरफ स्त्रियाँ अपने काम से बोझल होती गईं और पुरुष केवल दिमागी काम में ही लगे रहने के कारण ज्ञान को सजीव न बना सके और उनका ज्ञान केवल बुद्धि-विकास की ही चीज़ बना रहा। इस प्रकार श्रम और बुद्धि का विच्छेद घर से ही आरम्भ हो गया जिसका संयोग एक दूसरे के विकास को सहायक होता। आज यदि पुरुषों ने चक्कियों पर हाथ न डाला होता तो चक्कियों जैसे साधारण घरेलू यंत्र में भी वह सुधार नहीं किये जा सकते थे जिनके द्वारा कम से कम परिश्रम में व कम से कम समय में अधिक से अधिक पीसा जा सकता। शारीरिक व्यायाम भी है, एक व्यक्ति के हाथ का काम भी है और उत्पादन भी उतना सीमित है जिससे वे समस्याएँ उपस्थित नहीं हो सकती जो मशीन युग की विभीषिकाओं के कारण परिश्रम में हो रही हैं। यह तो एक उदाहरण मात्र है किन्तु ऐसे कई काम गिनाये जा सकते हैं। जिनमें स्त्री व पुरुषों के के विचार संयोग से आशातीत सुधार किये गये हैं और किये जा सकते हैं।

ज्ञानपूर्वक समझ के साथ इस काम को करने से धीरे-धीरे उसकी आँखें खुलने लगेंगी और प्रत्यक्ष अनुभव के प्रकाश में विभिन्न विषयों का ज्ञान उसकी आँखों के सामने झूलने लगेगा और उसे

बहुमुखी ज्ञान का द्वार खुल जायगा। केवल यंत्रवत समय पर भोजन की तैयारी मात्र ही उसका काम नहीं रहेगा, बल्कि वह सोचेगा कि किस प्रकार का भोजन शरीर को स्वास्थ्यप्रद है? कैसे बनाया जाय जिससे उसके भोजन तत्व नष्ट न होने पावें? प्राप्त सामग्री से ही किस प्रकार अधिक से अधिक पोषण प्राप्त हो? शरीर किन तत्वों का बना है? उसकी छीजन क्यों होती है उसकी पूर्ति के लिये हमारे शरीर को क्या-क्या वस्तुएँ किस-किस प्रमाण में चाहिये। भोजन की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में किस-किस प्रकार के जीवनतत्त्व हैं और उनसे शरीर को कितनी ऊष्णता प्राप्त होती है, भोजन का उद्देश्य क्या है। किस मात्रा में किया जाना चाहिये आदि ज्ञान उसके साथ जुड़ जाते हैं और भोजन की व्यवस्था ज्ञानपूर्वक व विचारपूर्वक करने से वह न केवल शरीर पोषण का ही साधन हो जाता है बल्कि वह जीवनोपयोगी उत्तम शिक्षा का भी वाहन बन जाता है।

रसोई के कामों में से प्रत्येक पर पृथक रूप से विचार करने से इस लेख का कलेवर बढ़ जायगा इसलिये कुछ उदाहरणों को ही लेकर रसोई के काम की शैक्षणिक उपयोगिता पर प्रकाश डाला जायगा। रसोई के काम के कई विभाग किये जा सकते हैं—जैसे कोठार में खाद्य सामग्री का संग्रह, सामान की खरीद, हिसाब रखना, रसोई घर में पानी, साक भाजी को सुरक्षित रखना व काटना, अनाज सफाई, आटा पीसना, आग जलाना, चूल्हा बनाना, दूध-दही बनाना और जमाना व हिफाजत से रखना, पाक विद्या, बरतन सफाई, परोसना आदि आदि।

सामान की खरीद से ही आरम्भ करने से यह प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है कि हमारे प्रान्त में अमुक खाद्य सामग्री सुविधा से प्राप्त होती है व अमुक सामग्री बाहर से मंगाई जाती है। किस फसल में किस वस्तु को इकट्ठा लेकर साल भर के उपयोग के लिये संग्रह किया जा सकता है। एक स्थान से व देश विदेश

से सामान लाने व ले जाने के कौन-कौन से साधन हैं। एक दूसरे देश से इस पारस्परिक आदान-प्रदान का क्या सम्बन्ध है और इसका परिणाम व प्रभाव उनके सामाजिक व राजनैतिक जीवन पर क्या पड़ता है। भिन्न-भिन्न कालों में खाद्य सामग्री के नियन्त्रण की क्या-क्या व्यवस्था की गई उसका उस समय के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। आज के बाजार की क्रय-विक्रय की क्या नीति है उसमें क्या गुण दोष हैं उनको कैसे सुधारा जा सकता है। नियन्त्रण के नियमों के अनुसार हमें सामग्री में किन-किन धान्यों का समावेश कर पूर्ति करना चाहिये आदि आदि।

खाद्य सामग्री का संग्रह भी शिक्षा का छोटा साधन नहीं है। गणित तो इन सब क्रियाओं के कदम-कदम पर लगा है अतः उसका विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। किस धान्य को किस प्रकार एक निश्चित अवधि तक नष्ट होने से बचा कर सुरक्षित रखा जा सकता है? रखने के पात्र कैसे हों? घी तेल कितनी अवधि में खराब हो जाता है व क्यों? उनकी सुरक्षा के साधन क्या हैं? कौन-कौन वस्तुएँ साक भाजी मसाले के रूप में सुखा कर सुरक्षित रखी जा सकती है अचार, मुरब्बे, रस व चटनी आदि सब इसी के अंग हैं।

साक भाजी काटना भी एक समझदारी का काम है। किसको छिलकेदार रखा जाय किसको नहीं। छिलका कहाँ से उतारा जाय जिससे उसका उपयोगी तत्त्व नष्ट न हो जाय। जैसे आलू को चाकू से छीलने से उसके पास का तत्त्व नष्ट हो जाता है क्योंकि छिलके के पास ही उसका पोषक तत्त्व रहता है। जल्दी व देर से पकने वाली तरकारी के अनुसार उसके टुकड़े किये जायँगे। दो तरकारियाँ एक दूसरे में मिलाने से उनका गलने में क्या प्रभाव पड़ता है। वे एक दूसरे के पकने में साधक हैं या बाधक। कटने के बाद हवा का क्या प्रभाव पड़ता है जैसे बैंगन का हिस्सा काला हो जाता है व उसको पानी में रखने की आवश्यकता पड़ती है।

किस मौसम में कौन-कौन तराकारियाँ प्राप्त होती हैं व वर्ष के दूसरे भाग के लिये उनको कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है। साक-भाजी का शरीर पर व पाचन क्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता है। कम ज्यादा पकाने से व मसालों के अधिक व्यवहार से क्या प्रभाव पड़ता है आदि।

रसोई घर में पानी भरना व रखना भी अनेक प्रकार के ज्ञान का साधन है। पानी के भिन्न-भिन्न रूप, पानी प्राप्ति के स्थान, वर्षा, पानी को अशुद्ध होने के कारण व उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की अशुद्धियों के निवारण के उपाय; पानी को निकालने के अनेक साधन उपयोग में लाये गये पानी का पुनः काम में लाया जाना। किस ऋतु में कैसा पानी दिया जाय, पानी छानने का घरेलू यन्त्र, कुवों की शुद्धि व रसायनिक पदार्थों का प्रयोग, पानी के बर्तनों की सफाई व छानना नितारना आदि क्रियाएँ।

आग जलाने की किफायत की तरकीबें जिनमें तेल आदि वस्तुओं का अकारण प्रयोग न किया जाय। गोबर के कंडों को जलाना उपयोगी खाद की हानि करना है। कम से कम लकड़ियों की गर्मी से किस प्रकार के चूल्हे द्वारा गर्मी को कई प्रकार से उपयोग में लाया सकता है। चूल्हा व चिमनी बनाने का क्या सिद्धान्त है। हवा की वहन क्रिया व वाहक धाराएँ। जलने में हवा की आवश्यकता व हवा के क्रियात्मक अंग का उपयोग। बन्द कमरे में जली हुई अंगीठी न रखने कारण। कोयलों को ढक देने से बुझ जाने का कारण आदि।

पाक विद्या तो अनेक प्रकार के ज्ञान का भाण्डार ही है। क्षण-क्षण पर वैज्ञानिक ज्ञान की गुंजायश है। ताप संचालन की चलन, वहन और निकरण क्रिया का व्यावहारिक ज्ञान मिलता है। चम्मच का दूसरा सिरा गरम होना व लकड़ी का न होना चलन क्रिया का प्रयोग है। आग का नीचे लगाना व ऊपर रखना इतना प्रभावशील न होना वहन क्रिया का ज्ञान देता है इसी प्रकार

वरतनों की नली को काला रखना आदि अनेक वैज्ञानिक ज्ञान देते हैं। भिन्न-भिन्न धातुओं का घनत्त्व, भोजन के पदार्थों पर रसायनिक प्रभाव, तापक्रम व धातुओं का मेल इसके अंग हैं। घुलनशील, ठोसों का द्रवों में घुलना, द्रवों का द्रवों के साथ संयोग भिन्न-भिन्न तापक्रम व उष्णांक, दबाव का प्रभाव, वाष्पीकरण आदि अनेक वैज्ञानिक शिक्षा के साधन वनाये जा सकते हैं।

विभिन्न देशों का भोजन व उनके पकाने की रीति व खाने के रीति-रिवाज आदि सामाजिक अध्ययन के साधन हैं।

वरतन साफ करने का अनुभव यह वतायगा कि वर्तनों को आँच पर रखते समय किस सावधानी से काम लिया जाय कि साफ करते समय परेशानी न हो। वर्तनों को साफ व उजला करने में खटाई का क्या रसायनिक प्रभाव होता है।

परोसना भी एक कला है। कौन-सा सामान कहाँ रखा जाय व परोसते समय किस वृत्ति से काम लिया जाय व परोसने में किस वात की सावधानी रखी जाय जिससे खाद्य पदार्थों का नुकसान न हो आदि।

देश-देशान्तरों में खाने पीने के रीति-रिवाज, उस देश की जलवायु, वहाँ की उपज, उनकी रहन-सहन की आदतों का ज्ञान होगा। छुआ-छूत कहाँ-कहाँ है क्यों है उसका सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव है? मांस खाने का रिवाज कहाँ है व क्यों है? शाकाहारी व मांसाहारियों की तुलना व उनका शारीरिक और वौद्धिक विकास कैसा है? भौगोलिक स्थिति कैसी है। सहभोज का क्या महत्त्व है?

संक्षिप्त में हमने देखा कि रसोई के कामों में, वैज्ञानिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, आदि अनेक प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान गुंथा हुआ है जिसको शिक्षा का साधन वनाने से वहुमुखी ज्ञान की पूरी संभावना है।

२५

मातृभाषा का शिक्षण

भापा का उद्गम तब हुआ जबकि नित्य प्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति में मनुष्य को अपनी जिह्वा का भी उपयोग करना पड़ा। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि कामेच्छा की तृप्ति के साधन रूप ही पहिले भापा तथा शब्दों का जन्म हुआ होगा। किन्तु भापा-शास्त्रज्ञों का यह मत है कि उद्योग के लिए ही भापा अथवा बोली का सर्व प्रथम उदय हुआ। सामान्यत: मनुष्य के जीवन में कामेच्छा जागृत होने के पहिले ही उद्योग अथवा मेहनत की आवश्यकता होती है इसलिए भापा का सम्बन्ध इसीसे अधिक पुराना व स्वाभाविक भी दिखाई देता है।

भापा में क्रिया की प्रधानता है। यह बात हमारे निरुक्तकारों ने भी बताई है। भापा के सब शब्द क्रियाओं से या मूल धातुओं से निकले हैं। आदमी काम करते-करते कुदरती चीजों से परिचय प्राप्त कर उनके भीतर भरे हुए क्रियाओं के स्वरूप को जानने की कोशिश करता है। प्रकृति की वस्तुओं को व्यवहार में लाने के पहिले उन्हें जानना पड़ता है और उन्हें नाम संज्ञा देने की जरूरत होती है। वस्तुओं के अंग-भूत गुण भी व्यवहार से प्रगट होने लगते हैं। क्रिया के बिना वाक्य पूरा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि क्रिया का व भापा का गहरा सम्बन्ध है। जब बालक बोलना शुरू करता है तो उसकी भापा व्यवहारों से ही बनती जाती है और क्रियाओं के साथ उसका

शब्द-कोष बनता और बढ़ता जाता है। इस प्रकार परिचित क्रियाओं द्वारा ही उसकी भाषा समृद्ध होती जाती है। उसकी क्रियाओं के दायरे के साथ ही उसका शब्द-भण्डार भी बढ़ता जायगा। आज-कल की शिक्षा-पद्धति में अक्षर ज्ञान को ही हद से ज्यादा महत्व दिया गया है जिसके कारण उनका भाषा-ज्ञान अधूरा तथा शक्ति-हीन रह जाता है।

सामान्यतया किसी भी उद्योग द्वारा बालक की भाषा विकसित की जा सकती है क्योंकि किसी भी दस्तकारी का प्रकृति तथा समाज से सम्बन्ध होने के कारण बालक को जीवन की लगभग सभी क्षेत्रों की जानकारी उपलब्ध होने का अवसर मिल सकता है। भाषा का अर्थ भी जीवन के प्रत्येक विभाग को वाणी द्वारा व्यक्त करना है। यह अभिव्यक्ति सच्चाई, सुन्दरता और मनुष्य की जिन्दगी को अधिक से अधिक शुद्धता की प्रेरणा देने वाली हो। वर्धा योजना में बच्चों को एकदम अक्षरों की जानकारी करा देने की कल्पना नहीं है। सबसे पहिले बालकों की बोलने की आदत बढ़ाई जाय, इसके बाद पढ़ने की व इसके बाद लिखने की। यह स्वाभाविक क्रम भी मालूम होता है।

संसार नामरूप-द्वारा बना हुआ है। पहिले मनुष्य के सामने वस्तु का रूप आता है फिर उसकी नाम संज्ञा की आवश्यकता, उसके व्यवहार के सम्बन्ध में समाज के सम्पर्क में आने पर, पड़ती है। बालक जब देखते-देखते व आवश्यकतानुसार व्यवहार में लाते-लाते जब सैकड़ों शब्दों का बिना सिखाये शब्द-भण्डार बना लेता है तो कोई कारण समझ में नहीं आता कि वर्णमाला के अक्षरों को देखते-देखते वह उनको न पहिचानने लगे। किन्तु इन वर्णमाला के अक्षरों को देखने का काम भी वैसा ही स्वाभाविक होना चाहिए जैसा कि नित्य-प्रति काम में आने वाली वस्तुओं का होता है। यानी वस्तुओं के साथ ही बालक को अक्षरों के रूप में उनके नाम भी देखने को मिलें और इसी प्रकार उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का धीरे-

धीरे समावेश होते-होते सम्पूर्ण वर्णमाला, मात्रा-ज्ञान और मिश्रित अक्षरों का स्वयं बोध हो जायगा व बालक बोलने के साथ पढ़ने भी लगेगा।

हम रात-दिन यह देखते हैं कि बालक देख-देख कर बहुत सी चीजों की शक्ल भी बिना बताए हुए स्वयं ही बनाने लगते हैं। इसी आधार पर जब अक्षरों को पढ़ते-पढ़ते उनकी शक्ल उनके मस्तिष्क में जम जायगी तब उसको लेखनी से उतारना भी सरल हो जायगा इसलिए बोलने, पढ़ने व लिखने का क्रम स्वाभाविक व वैज्ञानिक समझ में आता है। पहिले बालक स्वयं अपने जीवन-सम्बन्धी काम-काज तथा दस्तकारी की क्रियाओं से सम्बन्धित भाषा द्वारा अपने शब्द-भण्डार को बढ़ाएँगे। जब उनको ठीक-ठीक पढ़ना तथा लिखना आ जायगा तब वह अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल पुस्तकों के अध्ययन करने का तथा अपने विचारों को तथा दूसरों के विचारों को लिखित रूप में संचित करने का कार्य करेंगे और इसके द्वारा सच्ची साहित्यिक अभिरुचि का उदय होगा। इससे साहित्य का भी सृजन होगा जो स्वयं के अनुभव तथा अध्ययन के आधार पर है।

व्याकरण के अध्ययन के लिए भी जीवन की नित्य-प्रति की क्रियाएँ काम में लाई जा सकती हैं। संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-पदों आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष काम कराते समय करा देना सरल है। व्याकरण का मतलब है भाषा की मीमाँसा। भाषा इस जिन्दगी से केवल सम्बन्ध ही नहीं रखती बल्कि उसकी क्रियाओं पर आधार-भूत है। भाषा मनुष्य द्वारा निर्मित सांकेतिक शब्दों की एक सृष्टि है शब्द प्राकृतिक वस्तुओं का तद्रूप स्वरूप नहीं है वह उनके प्रतिनिधि रूप में संकेतमात्र है। जब हम अपने इन्द्रिय-ज्ञान से विमुख होने लगते हैं और सिर्फ वाणी तथा लिपि द्वारा अपना काम चलाने लगते हैं तभी से भाषा और हम में अन्तर पड़ने लगता है। इससे पैदा

होने वाले साहित्य में असत्यता, दुर्बलता आदि दोष आ जाते हैं। जो समाज अपने जीवन की प्रत्यक्ष भूमि पर क्रियाशील रहता है उसकी यह दशा नहीं होने पाती है और उसके द्वारा जिस साहित्य का सृजन होता है वह मनुष्य के जीवन को आनन्द से भर देता है और पुरुषार्थ का प्रेरक होता है। इसलिए मातृभाषा शिक्षण के अन्तर्गत वर्धा-योजना में निम्नलिखित बातों का समावेश है:—

(१) बच्चे को अपने वातावरण की वस्तुओं, लोगों तथा घटनाओं पर ठीक-ठीक तरह से भाव प्रगट करने की योग्यता आनी चाहिए। वह सम्बन्धित विषयों पर प्रभावशाली वक्तव्य दे सकें।

(२) उन्हें अच्छी गति तथा स्पष्टता व सुन्दरता के साथ लिखित रूप में विचार प्रगट करना आता हो।

(३) धीरे-धीरे समझ के साथ पढ़कर पुस्तकों तथा समाचार पत्रों का अध्ययन करना आता हो व आवश्यकता पड़ने पर वे जोर से स्पष्टता के साथ पढ़ सकें।

(४) उन्हें पुस्तकों के अध्ययन के सम्बन्ध में सूची से विषय देखना, कोष को व्यवहार में लाना तथा संदर्भ की पुस्तकों का ठीक अध्ययन करना आता हो।

(५) उन्हें नित्य-प्रति की घटनाओं का बयान करना, सभा आदि के ब्यौरे लिखना, कार्य की रिपोर्ट लिखना आता हो व ठीक तरह से पत्र व्यवहार कर सकते हों।

(६) उच्च कोटि के लेखकों तथा साहित्यिकों की रचना को अध्ययन करने की रुचि हो तथा उसकी सुन्दरता समझने का प्रयत्न करते हों।

भाषा का प्रत्यक्ष-समवेत ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

१. आरम्भिक काल में बालकों के सामान के साथ मोटे-मोटे अक्षरों में उनके नाम लिख दिये जायँ।

२. सामान को अलग-अलग रखने की व्यवस्था करते समय उदाहरणार्थ तकलियों के घरों पर बालकों के नाम डाल दिये जायँ व नम्बर डाल दिये जांय।

३. वर्ग में शिक्षक मोटी-मोटी गत्ते की तख्तियाँ रखें जिनमे एक एक में अलग-अलग नित्य-प्रति के काम में आने वाली चीजों के नाम अलग-अलग समुदाय बनाकर लिखें। उदाहरणार्थ एक में कताई की चीजों के नाम, दूसरी में खेती की चीजों के नाम, खेती की पैदावार, फसलों के नाम जो बालकों ने देखी हैं और पहिचानते हैं, फलों के नाम, तरकारियों के नाम, शरीर के हिस्सों के नाम, बर्तनों के नाम, कपड़ों के नाम, खेल के सामान के नाम, दिनों के नाम, महीनों के नाम आदि आदि।

४. इसी प्रकार क्रियाओं से समुदाय भी बनाये जा सकते हैं। यह तख्तियाँ ही बालकों की आरम्भिक कक्षा मे पाठ्य पुस्तकें होंगी। वर्णमाला के नक्शों में अक्षरों को देख-देखकर जब बालक अक्षर सीखते हैं तब प्रत्यक्ष चीजों के साथ अक्षर-ज्ञान जुड़ा रहना बिलकुल ही स्वाभाविक है। जब बालकों को इस प्रकार अक्षर-ज्ञान हो जाय तो उनको एक अक्षर पर लगी हुई मात्रा का उपयोग सब अक्षरों पर कराकर मात्रा-ज्ञान बढ़ाना चाहिये। क्रमानुसार न तो अक्षरों को ही पढ़ाने की जरूरत है न मात्रा-ज्ञान को ही।

५. इस प्रकार यह कार्य हो जाने के पश्चात नित्य-प्रति के कामों को श्याम पट पर लिखकर पूरे-पूरे वाक्य पढ़ने का अभ्यास कराया जाय और उसी के अनुसार यदि शिक्षक उत्साही है तो मोटी कलम से लिख-लिख कर थोड़े थोड़े पृष्ठों की कापियाँ बना सकते हैं जिनको अलग-अलग बालक उठा उठाकर पढ़ सकेंगे। अन्यथा वर्ग की योग्यता के अनुसार एक किताबों का सेट रख लिया जाय जिनका बालक पृथक-पृथक रूप से उपयोग कर सकें।

६. जैसे-जैसे विद्यार्थी एक कक्षा से दूसरी कक्षा की योग्यता

प्राप्त करते चलें उसी के अनुसार पुस्तकों के सेट का चुनाव होना चाहिये जिनमें जीवन चरित्र, ऐतिहासिक तथा पौराणिक कहानियाँ, नागरिक ज्ञान की कथाएँ, लोक गीत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय गायन, सामान-विज्ञान तथा सामान्य विज्ञान के विषयों का, वर्ग की योग्यता के अनुसार, समावेश हो। जब बालकों को लिखने का अभ्यास बढ़ चले तो विद्यार्थियों को पढ़े हुए विषय का लेखा रखने को कहा जाय व खुलासा लिखने को कहा जाय।

७. लेखन की ओर नैमित्तिक रोजनामचा, व्याख्यानों का खुलासा, सभाओं के व्यौरे, कार्यों की रिपोर्ट अच्छे साधन हो सकते हैं।

८. हस्तलिखित पत्रिका के सम्पादन द्वारा बालकों में लेखन, भाव-प्रदर्शन व साहित्य-अध्ययन द्वारा साहित्य संग्रह की अभिरुचि उत्पन्न की जा सकती है। लोकगीतों, कहानियों का समावेश इनमें किया जा सकता है। विद्यार्थी अपनी शिक्षण-यात्राओं, उत्सवों, कार्यक्रमों, सूचनाओं-योजनाओं के वर्णन, हास्य विनोद, चित्रकारी आदि द्वारा उसका एक सुन्दर कलेवर बनाकर स्वयं अपनी कृति से आनन्दित हो सकते हैं। वह पाठशाला के विकाश का जीवित इतिहास होगा और उस पाठशाला के वातावरण के अनुकूल एक साहित्य का अंग भी होगा।

९. साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम भी भाषा के ज्ञान की वृद्धि में गुड़ लिपटी गोली का काम देते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों को सफल बनाने के प्रयत्न में मैंने स्वयं बालकों को बड़ा अध्ययन करते और एक उत्तम अभिरुचि का परिचय देते देखा है। कला, संगीत और सहित्य की एक निर्मल त्रिवेणी का उद्गम इस प्रकार के कार्यक्रमों में होता है और विकास पाता है। एक ऐतिहासिक अभिनय अथवा प्रदर्शन में जो अल्प काल में ही बालक का हृदय

पटल चित्राङ्कित होता है वह काम पुस्तकों के कई पृष्ठ भी नहीं कर सकते हैं।

१०. प्रदर्शिनी की तैयारी भी भाषा और साहित्य के अध्ययन का अवसर उपस्थित करती है। अतएव इन सब साधनों का उचित उपयोग भाषा-शिक्षण के स्वाभाविक तथा सरल साधन हैं।

२६

नई तालीम में कला का स्थान

मनुष्य के अवकाश के सदुपयोग की दृष्टि से कला का बड़ा महत्त्व है। मानसिक विकास की दृष्टि से भी चाहे वह चित्रकला हो, चाहे संगीत कला हो अधिकाधिक शिक्षा के कार्यक्रम में स्थान पाने लगी है। बालकों को यदि अपने भावों को प्रदर्शन करने का अवसर दिया जाय तो वह पेन्सिल या रंग के द्वारा अपने भावों का प्रदर्शन करने में अधिक रुचि रखते हैं। इस तरह चित्रकारी उनके मस्तिष्क के लिये एक संकेत लिपि है।

आस-पास के आदमी, मकान, पेड़ और प्राणी आदि जिनको वे नित्य देखते रहते हैं उनके चित्र बनाने का प्रयत्न बच्चे अपने आप ही करते रहते हैं। इस प्रकार इस प्रकृति को प्रोत्साहन मिलने से उनकी ज्ञानेन्द्रियों को अधिकाधिका शिक्षा मिलती रहती है। चित्र बनाने में उनको रंग भरने में विशेष आनन्द आता है। कागज़ और पेंसिल होने पर वह केवल इन्हीं से काम चलाते हैं पर यदि रंग का बक्स और ब्रुश मिल जाय तो फिर खज़ाना ही मिल गया। चित्र बनाने के लिये इन चीज़ों को वे अनमोल समझते हैं।

चित्र की आकृति खींचने की अपेक्षा वह रंग भरने की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। रंग भरने को उत्तम श्रेणी का व रेखा खींचने को निम्न श्रेणी का काम समझते हैं और सिर्फ रंग भरने को ही रेखा खींचने की ज़रूरत समझते हैं। किन्तु चित्रकला के शिक्षक

पहिले रेखाएँ खिंचवा कर फिर आकृतियाँ बनवाते हैं, तब कहीं रंग भरना सिखाते हैं। किन्तु बच्चों को रंग का ज्ञान पहिले होता है और आकार का पीछे। यह बात मनो-विज्ञान के नियमों के अनुसार है, इसलिये आकार बनाने के पूर्व रंग भरना सिखाना चाहिये।

आरम्भ काल से ही बच्चे जब चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं तभी से उनको चित्र विद्या सिखाने का प्रारम्भ होना चाहिये। इस प्रवृत्ति को उत्तेजना देनी चाहिये। जब धीरे-धीरे हाथ जम जायगा तब आकार-शुद्धि का यथेष्ट ज्ञान हो जायगा। आरम्भ में जो चित्र बच्चे अपने हाथ से बनाते हैं उनमें बहुत कम वास्तविकता होती है। वे बहुत ही अस्पष्ट और भौंडे होते हैं। परन्तु यह अस्पष्टता और भद्दापन परिणति-वाद के नियमों के अनुसार ही होता है। अतएव ऐसे चित्रों को बेपरवाही की दृष्टि से न देखना चाहिये। उनकी तरफ़ से उपेक्षा न करनी चाहिये। चित्रों के आकार चाहे जैसे बेढंगे हों कुछ परवाह नहीं। रंग भरने में चाहे जितना भद्दापन क्यों न आगया हो। उन्हें देखकर चाहे चक्षुशूल ही क्यों न होता हो तो भी कुछ परवाह नहीं। क्योंकि इस आरम्भिक काल में यह नहीं देखा जाता कि बच्चा अच्छे चित्र बनाता है या नहीं, देखा यह जाता है कि वह अपनी मानसिक शक्तियों की उन्नति कर रहा है या नहीं। उसका हाथ बैठता जाता है या नहीं। पहिले पहल बच्चे को अपनी उंगलियों पर अधिकार करना पड़ता है और आकार का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। अर्थात् आकार साम्य की कल्पना का भी अन्दाज़ा लगाना पड़ता है। आरम्भ में यही बातें काफ़ी समझी जाती हैं। हमें उचित है कि इस तरह बच्चों को उनकी ज्ञानेन्द्रियों और हाथों का उपयोग करने में उत्साहित करें और उन्हें उस मार्ग पर ले जायं जिस पर चलने से उन्हें इस काम में सफलता होगी। इस विषय में उनके मार्गदर्शक बनना, उन्हें सुमार्ग दिखाना ही हमारा कर्तव्य है।

अभ्यास के द्वारा अपने आस-पास की चीजों को देखना उनकी आकृति बनाना तथा उनमें रंग भरने के अभ्यास की बदौलत हर चीज को और भी अधिक यथार्थ तथा पूर्ण रीति से देख-भाल करने की शक्ति उनमें आजाती है। इस तरह करते-करते जांच, परीक्षा और आलोचना करना अच्छी तरह आजाता है। वस्तुओं के गुण धर्म बालकों के अध्ययन की वस्तु बन जाती है। वे उनको समझ कर स्वयं अपने चित्र की संकेत-लिपि में प्रदर्शित करते हैं।

चित्रकला के दो हिस्से किये जाना चाहिये। एक तो वह जिसमें बालकों को अपने भाव प्रदर्शित करना सिखाया जाय जिसमें वह अपने मन से चीजों की शक्लें बनावें व रंग भरें। इसके बाद उनको बाकायदा आकृतियों का बताना सिखाया जाना चाहिये। दूसरे हिस्से में बच्चों में रचना-शक्ति पैदा करने के लिये उन्हें शुरू-शुरू में तस्वीरों के ज़रिये कहानियां सिखाई जांय। इससे वे कहानी सुनकर या पढ़ कर तस्वीरों के द्वारा उसे समझने की कोशिश करेंगे व अपनी अनुकरण की आदत द्वारा उन भावों को अपने चित्रों में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे। अच्छे चित्रों में भावों को पढ़ने का सही अभ्यास हो जायगा।

खर्चे की दृष्टि से हमको ब्रुशों की जगह बांस अथवा खजूर की कूंचियों से काम लेना चाहिये। विदेशी महंगे रंगों के स्थान पर साधारण सस्ते देशी रंग काम में लाना चाहिये व इसी प्रकार चीनी के प्यालों के बजाय मिट्टी के बर्तनों से ही काम लेना उचित होगा।

कला का सबसे बड़ा शिक्षक प्रकृति और वातावरण है जिनके अध्ययन की आवश्यकता है। इसी से उसे उत्तेजना प्राप्त होगी। जब बालक इस तरह इन चीजों से प्रभावित हो तो ऐसी व्यवस्था देना चाहिये कि वह अपने भावों को प्रकट कर सके। यदि पहिली बार उनको प्रकट करने में वह असफल रहे तो उसे असली चीज का फिर अध्ययन कराया जाय, ताकि वह त्रुटि को स्वयं मालूम कर सके व उसे पूरा कर सके। इस पर भी यदि कमी रह जाय तो किसी अच्छे

चित्रकार की सर्वश्रेष्ठ कृति दिखाई जाय जिससे वह सुधार कर सके। इसके बाद शिक्षक को सहायता देनी चाहिये। इसको देख कर विद्यार्थी स्वयं सुधार करे। एक अच्छा शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों के साथ रहकर काम करता है जिससे उसको काम करते देख कर भी बालक बहुत कुछ सीखते रहते हैं।

बुनियादी स्कूलों में त्यौहारों तथा उत्सवों पर घरों की सजावट तथा स्कूल की सजावट का व स्कूल के संग्रहालय की व्यवस्था-पूर्वक रचना में कला के व्यावहारिक प्रदर्शन का पूरा हाथ है। प्रदर्शिनियों की व्यवस्था तथा सजावट भी इसका अच्छा अवसर देती हैं। दस्तकारी जो बुनियादी शिक्षा का आधार है उसमें सुन्दरता, सफाई की काफी गुंजायश है। क्योंकि कला यद्यपि दस्तकारी नहीं है बल्कि वह उसकी सहायक है इसीलिये दस्तकारी के साथ-साथ कला को चलाना चाहिये तब वह एक उपयोगी कला का रूप ले सकेगी। कलाकार इस प्रकार चीजों को नया-नया रूप देकर उनको जीवित रख सकेगा।

चित्रकला की तरह संगीत भी बालकों में कोमल भावों की जाग्रति करता है। शिक्षा में संगीत का भी बड़ा स्थान है। कहा जाता है जिसके हृदय में संगीत नहीं उसके जीवन में संगीत नहीं। संगीत की भाषा विश्व-साम्य की द्योतक है। वह भिन्नता में एकता का अनुभव कराती है। सारे संसार में स्वर-साम्य है इसलिये संगीत के क्षेत्र में समानता है। संगीत में मनुष्य की प्रकृति-परिवर्तन का गुण है। इसलिये बापू कहते थे कि प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में संगीत को जगह मिलनी चाहिये। जितनी जरूरत बालक के हाथ को तालीम देने की है उतनी ही उसके कण्ठ को सुधारने की भी है। बालक और बालिकाओं की छिपी हुई शक्ति को प्रकट करने और उसमें शिक्षा का रस पैदा करने के लिये यह जरूरी है कि उन्हें, उद्योग, चित्रकला, संगीत व संगीत मय सामूहिक व्यायाम करना आता हो।

ग्राम्य-गीत, लोक-संगीत, लोक-नृत्य में हमें सच्ची कला और ऊँचे दर्जे के साहित्य का वृहद् भंडार मिलता है। उत्सवों तथा त्यौहारों पर किया गया आयोजन स्वाभाविक आनन्द का साधन हो जाता है। अभिनय और नाट्य इस कला की ही श्रेणी में आते हैं। इसमें संगीत और नृत्य का समावेश है। साथ ही भावों के प्रदर्शन तथा भाव भंगी के अध्ययन का भी अच्छा अवसर होता है जो चित्रकला के साधक को भी अच्छे अध्ययन का विषय बन जाता है। इस कला द्वारा साहित्य, चित्रकला तथा संगीत का समन्वय होकर जीवन की वास्तविक कला का अध्ययन होता है और जीवन ही कलामय हो जाता है।

जो व्यक्ति या समाज सजीव है, तेजस्वी है उसमें आनन्द है और वह समाज या व्यक्ति अपनी संस्कृति, साहित्य, संगीत, कला, उत्सव-त्यौहारों आदि द्वारा अपने आनन्द का प्रदर्शन करता है। यह प्रदर्शन अहिंसात्मक है और अपने आप को आनन्दित कर दूसरों को भी आनन्द देने वाला होता है।

२७

बुनियादी स्कूल के बच्चों से आशा

(१) उनके शरीर के सब हिस्से समान और उचित तरीके से बढ़े हुए हों और बच्चा मेहनत के काम करने की शक्ति रखता हो, तन्दुरुस्त और फुर्तीला हो।

(२) नये आने वाले समाज में आपस में हिल-मिलकर रहने के सामाजिक जीवन को समझता हो। गांवों तथा घरों में होने वाले कामों के महत्व को जानता हो। देहात की आर्थिक स्थिति को वह समझता हो।

(३) आवश्यकता पड़ने पर वह अपने मूलोद्योग के द्वारा अपने लिए आवश्यक अन्न उत्पादन कर सके और कसाई द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। खाने के लिये भाजियां पैदा कर सके।

(४) कपास से अपने वस्त्रों की समस्या पूर्ति कर सके।

(५) वह भोजन बनाना जानता हो। उसे ठीक-ठीक परोसना आता हो। वह अपने कुटुम्ब के तथा आवश्यकता पड़ने पर एक समुदाय के भोजन-खर्च का अनुमान पत्रक बना सके व उसके खर्च का हिसाब ठीक-ठीक रखना आता हो।

(६) वह जानता हो कि कौन-कौन सा अन्न हमारे शरीर के किस-किस हिस्से को लाभदायक है व किस अन्न से शरीर स्वस्थ रह

सकता है। किस प्रकार की सामग्री का भोजन में समावेश किया जाना चाहिये।

(७) ग्राम-सफाई, बीमारियां तथा उनसे बचने के उपाय व स्वास्थ्य के साधारण नियम अच्छी तरह जानता हो।

(८) प्राथमिक सहायता की जानकारी हो व साधारण रोगियों की देखभाल करना उसे आता हो।

(१०) सहकारी भंडार चलाने की तथा हिसाब-किताब रखने की योग्यता हो।

(११) स्पष्टता और सभ्यता के साथ आम सभा में अपने विचारों को रख सकता हो।

(१२) अपने विचारों को व सभा आदि के व्यौरे को ठीक-ठीक सही-सही लिख भी सकता हो।

(१३) अपनी मातृभाषा के अच्छे साहित्य को समझता हो व उससे अभिरुचि हो तथा राष्ट्र भाषा से प्रेम हो व कम से कम साधारण व्यवहार व काम-काज की राष्ट्र भाषा की भी योग्यता रखता हो।

(१४) धार्मिक राष्ट्रीयगीत सामूहिक रूप से गा सकता हो।

(१५) कला के सुन्दर गुणों को जानता हो व अच्छी तस्वीरों में कला की प्रशंसा करनी आती हो। साधारण त्यौहारों तथा उत्सवों में सजावट तथा व्यवस्था के समय वह कला का व्यावहारिक उपयोग कर सके।

(१६) उसे ग्राम तथा पाठशाला के त्यौहारों का संगठन तथा आयोजन करना आता हो।

(१७) समाचार पत्रों का ठीक-ठीक अध्ययन करना आता हो जिससे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक, परिस्थिति को ठीक-ठीक समझ सके।

(१८) अपने उद्योग के सम्बन्ध में आने वाले औज़ारों के यांत्रिक सिद्धांतों को जानता हो।

(१९) खाने की चीज़ें तथा कपास पैदा करने में वैज्ञानिक महत्त्व

की बातें तथा मूलोद्योग से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक बातें भी जानता हो।

(२०) अपने लिए अन्न तथा वस्त्र व खाने-पहिनने की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध से वह हिन्दुस्तान तथा दुनिया का भूगोल जानता हो।

(२१) इतिहास की मोटी-मोटी रूप-रेखा जानता हो तथा यह जानता हो कि वर्तमान आज़ादी की लड़ाई में किस तरह लड़ कर विजय प्राप्त की है।

(२२) वह सब जातियों में सच्चा मेल-मिलाप चाहता हो और सब धर्मों के प्रति उसका समादर हो।

(२३) अपने ग्राम के प्रति उसकी प्रेम की भावना हो। उसकी सेवा की तत्परता हो और पड़ोसी गांव के प्रति सहयोग की भावना रखता हो।

(२४) जाति, वर्ग और वर्ण के मिथ्या भेद में विश्वास न रखता हो।

(२५) अनुशासन की भावना उनमें लादे जाने के बजाय स्वयं ही आ जानी चाहिए।

(२६) उनमें नई-नई बातें जानने की जिज्ञासा हो, काम को लेकर पूरा करने की आदत हो जिससे उनमें स्वयं का आत्म-विश्वास बढ़े।

(२७) वह अधिक से अधिक स्वावलम्बी व कम से कम परावलम्बी हो। उसमें सहयोग की भावना हो।

(२८) अपने सामाजिक जीवन तथा प्राकृतिक क्षेत्र की जानकारी द्वारा अपने वातावरण से परिचित हों।

२८

नई तालीम और पुरानी तालीम पर तुलनात्मक दृष्टि

पुरानी पद्धति	नई तालीम
(१) सब को एक ही साँचे में ढाला जाता है जिससे व्यक्तित्व का ह्रासहोता है।	(१) व्यक्तिगत अन्तर का ध्यान रख कर व्यक्तिगत विकास को अवसर दिया जाता है।
(२) केवल रहने की शक्ति पर ही जोर दिया जाता है। जो पुस्तकी ज्ञान शिक्षक द्वारा प्राप्त हो शिक्षार्थी ठीक वैसा ही दोहरावें केवल यही पर्याप्त समझा जाता है।	(२) नवीन ज्ञान की खोज की जावे तथा नई वस्तु का निर्माण किया जावे।
(३) शिक्षा का केन्द्र शिक्षक ही है। वह प्रमुख नाट्यकार है शेप विद्यार्थी उसके सुर में सुर मिलाते हैं।	(३) विद्यार्थी ही केन्द्र है। अपना काम स्वयं करते हैं शिक्षक मार्ग दर्शक के रूप में उनकी क्रिया के संचालन में सुविधाओं की व्यवस्था करता है शिक्षक स्वयं भी नया अनुभव प्राप्त कर अपने ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करता रहता है।

(४) शिक्षक की सिखाई गई पंक्तियों को अन्ध विश्वास के साथ दुहराते रहना जिसमें न तो शारीरिक क्रियाशीलता ही है और न मस्तिष्क ही सक्रिय बनता है।	(४) विद्यार्थी को नई-नई खोज के लिए स्वतन्त्रता प्रोत्साहन और अवसरों की सुविधा दी जाती है जिससे मौलिकता को प्रकाशन मिल सके। शरीर श्रमशील हो मस्तिष्क चैतन्य हो।
(५) परिस्थिति तथा वातावरण के अनुसार दिन प्रतिदिन की शिक्षा में कोई परिवर्तन नहीं होता है।	(५) आवश्यकतानुसार एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे हेर-फेर कर लिया जाता है।
(६) शिक्षा उसके प्राकृतिक वातावरण से दूर रखी जाती है अतएव जीवन सामग्री और क्रियाओं का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता है।	(६) अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाता है कि उसको जीवन तथा जीवन की क्रियाओं से सम्बधित किया जाय।
(७) विद्यार्थियों को केवल एक ही आदेश है "आज्ञा मानो"	(७) "रुचि के साथ काम करो"
(८) 'मत हिलो' 'अपनी जगह से न हटो'	(८) खोज करो, मालूम करो, स्वतन्त्रता से चलो फिरो।
(९) अनुकरण करो	(९) स्वयं निरीक्षण करो, परीक्षण करो, परिणाम निकालो 'करो और सीखो' मूल सिद्धान्त है।
(१०) 'मत बोलो', 'चुप रहो' 'जो कहें वह सुनते रहो'	(१०) तर्क द्वारा ज्ञान का परिपाक करो।
(११) 'मत हंसो' 'चुप रहो'	(११) अपने कार्य मे प्रसन्नता से लगे रहो।

(१२) अपने साथियों को परास्त करने का प्रयत्न करो।	(१२) अपने साथियों के साथ सहयोग की भावना रखो स्वयं उन्नति करो दूसरों को साथ में उन्नति करने में सहयोग प्रदान करो।
(१३) किसी हस्तकला का अल्प ज्ञान प्राप्त करना और उसकी विशेपताओं की ओर उचित ध्यान न देना।	(१३) चुने हुए उद्योग में पूर्ण प्रवीणता, निपुणता प्राप्त करना और उसी को ज्ञान का वाहन यानी साधन बनाना।
(१४) प्रत्येक विपय को पृथक-पृथक पढ़ाना एक विपय का दूसरे विपय से सम्बन्ध ही न रखना।	(१४) दस्तकारी को शिक्षा का आधार बनाना और उसी के द्वारा ज्ञान की भिन्न २ शाखाओं का सम्बन्ध जोड़ देना।
(१५) केवल मस्तिष्क के विकास और पुस्तकी ज्ञान पर ही ध्यान देना उनकी सृजनात्मक शक्ति तथा मूल प्रवृत्ति को स्थान ही नहीं है।	(१५) मूल प्रवृत्ति के आधार पर सृजनात्मक शक्ति का उपयोग करना और उसके मस्तिष्क के विकास का साधन बनाना।
(१६) संगठन और अनुशासन की समस्याएँ केवल पुस्तक मात्र से ही पढ़ लेना उनके वास्तविक सुलभाव से अनभिज्ञ रहना।	(१६) पाठशाला का संगठन स्वयं प्रेरित, स्वयं संचालित व्यवस्था द्वारा करना। संगठन लोकतन्त्र प्रणाली के आधार पर स्वायत्त शासन पद्धति से कर प्रत्यक्ष पाठ सीखना।
(१७) जीवन सम्बन्धी क्रियाओं तथा कार्यक्रमों का अभाव।	(१७) "जीवन के हेतु जीवन की क्रियाओं द्वारा शिक्षा" ही मूल सिद्धान्त है जिनमें

	भोजन, वस्त्र, ग्रह आदि की बुनियादी आवश्यकताओं पर पूरा जोर है सफाई तथा स्वास्थ्य के नियम उसके अंग भूत हैं।
(१८) पाठशाला को समाज से पृथक समझा जाता है।	(१८) पाठशाला को समाज का ही छोटा रूप माना जाता है जिसमें उन सब समाज की प्रवृत्तियों को स्थान है जिस वातावरण मे वह समाज निर्मित है।
(१९) परीक्षा अव्यावहारिक होती है जिसमें केवल सैद्धान्तिक विषयों की जॉच होती है।	(१९) व्यावहारिक होती है जिसमें सैद्धान्तिक विषयों के साथ उद्योग तथा सामाजिक ज्ञान की भी जॉच होती है।
(२०) परीक्षा केवल वर्ष के विशेष अवसरों पर होती है।	(२०) परीक्षा नित्य प्रति के कार्यों में होती है।
(२१) केवल लेखी परीक्षा प्रश्नोत्तरों द्वारा की जाती है।	(२१) उत्पादन, व्याख्यान, नैमित्तिक डायरी, मासिक रिपोर्ट सामाजिक कार्यों में भाग लेना, संगठन तथा व्यवस्था की कुशलता, विशेष प्रकार के मौलिक साहित्य का सृजन प्रिय वस्तुओं का संग्रह तथा निर्माण, प्रदर्शिनी की वस्तुओं का निर्माण, पाठशाला की पत्रिका का संचालन सांस्कृतिक कार्यक्रम

सेवाकार्य, आदि की व्यावहारिक योग्यता का समावेश रहता है।

(२२) परीक्षा केवल मस्तिष्क व शरीर पर प्रभाव डालने वाली है प्रायः परीक्षा के ही समय शरीर पर अधिक परिश्रम के कारण दूषित परिणाम लाने वाली होती है।	(२२) विद्यार्थियों में नैमित्तिक काम करने की आदत डाल कर समुन्नत बनाने वाली होती है।
(२३) परीक्षा में योग्यता की अधूरी जाँच के साथ-साथ भय उत्पन्न करने वाली होती है।	(२३) विद्यार्थियों की पूरी जाँच के साथ-साथ उनमें मनोविकार न लाकर उमंग तथा उत्साह उत्पन्न करने वाली है।
(२४) केवल पुस्तकी ज्ञान के कारण श्रमजीवी तथा बुद्धिजीवी के अन्तर को बढ़ाने वाली है।	(२४) उत्पादन कार्यों द्वारा श्रम के महत्व को समझा कर श्रद्धा उत्पन्न करने वाली और श्रमजीवी व बुद्धिजीवी के बीच की खाई को पाटने वाली जिसके द्वारा बुद्धि व श्रम के संयोग से सुन्दर वस्तुओं का निर्माण हो व आर्थिक लाभ भी हो।
(२५) विद्यार्थियों को परतन्त्र और पर मुखापेक्षी बनाने वाली जिसमें स्वतन्त्र जीवन के साधन ही का अभाव है।	(२५) विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाकर उनमें आत्म निर्भरता उत्पन्न करने वाली है।
(२६) एक ही व्यक्ति द्वारा उसके अधिकार पूर्ण आदेशों की	(२६) प्रत्येक स्थिति का अध्ययन व विश्लेषण ही निरीक्षण है

पूर्ति ही निरीक्षण है जिसमें शिक्षक की ही जाँच प्रधान कार्य है। शिक्षक के अनुभवों का कोई विशेष स्थान नहीं है।	जिसमें शिक्षा का उद्देश्य, पद्धति, पाठन वस्तु, शिक्षक, शिक्षार्थी तथा वातावरण सब ही पर पूरी दृष्टि है। शिक्षक एक सहयोगी के नाते सम्मानित है और उसके प्रयोगों के अनुभवों से पूरा लाभ उठाया जाता है।

२६

शिक्षक के गुण

शिक्षा की सफलता, जितनी शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षा-सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति पर अवलंबित है ठीक उससे भी अधिक योग्य शिक्षक पर निर्भर है। हमारे देश में यह परम्परा रही है कि अध्यापन कार्य को आर्थिक लाभ का साधन अथवा व्यापार नहीं समझा गया है। यही कारण था कि देश की सभ्यता और संस्कृति में अध्यापकों का ऊँचा स्थान रहा है। अध्यापन कार्य एक उच्चकोटि की समाज-सेवा है जिसके आधार पर किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का उत्थान होता है। इस त्यागी और तपस्वी ऋषि-जीवन से उपकृत तथा प्रभावित होकर चक्रवर्ती राजाओं के मुकुट भी गुरु के समादर में झुक जाते थे और वह मुकुटधारी सदैव श्रद्धावनत बने रहते थे। आज समाज की अव्यवस्था होने से न तो अध्यापकों की वह तपस्वी वृत्ति रही है और न जनता में शिक्षकों का सम्मान ही रहा है जिसके फलस्वरूप शिक्षा के साथ आशीर्वाद नहीं है और वह शिक्षा भी असफल हो रही है। किन्तु इस युग को पुन: वापिस लाने के लिए शिक्षकों को ही भागीरथ प्रयत्न करना है। सबसे पहिले उनको ही अपने कार्य में सुधार करना है व अपने चरित्र का निर्माण कर अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार समझना है जिससे समाज में न्याय की स्थापना हो। ऐसा समाज निर्मित होने पर ही अध्यापक का सम्मान हो सकेगा।

अब शिक्षक की विशेषता की एक संक्षिप्त रूप-रेखा पर विचार करते हैं। जिन गुणों के आधार पर वह समाज के दोषों को दूर कर उसमें परिवर्तन लाकर समाज को सुसंस्कृत करेगा।

शिक्षक की सबसे पहली विशेषता उसका आदर्श चरित्र है। बालक स्वभाव से अनुकरणशील होते हैं। इसी गुण के द्वारा उनका बहुत-सा शिक्षण होता रहता है। अतएव शिक्षक को अपने आदर्श चरित्र और दिनचर्या से ऐसा नमूना उपस्थित करना चाहिये कि वह गुण स्वयं ही शिक्षार्थियों के जीवन के अंग बनते जॉय। जैसे माता-पिता के गुण परस्परागत प्रवृत्तियों के आधार पर बालक में पाये जाते हैं वैसे ही एक सफल शिक्षक के गुण उसके विद्यार्थी में प्रतिबिम्बित होते हैं। बालक में वीरपूजा की भावना होती है अतएव एक अच्छे आदर्श-चरित्र शिक्षक के प्रति उनकी स्वाभाविक आदर की भावना का उदय होता है। उसकी दूसरी विशेषता उसका ज्ञान का भण्डार है। एक सफल शिक्षक के ज्ञान का भंडार संकुचित नहीं होता। विविध विषयों का उसका ज्ञान-भण्डार विस्तृत होना चाहिए। जिससे बालकों द्वारा उपस्थित समस्याओं का वह समाधान कर सके। बुनियादी शिक्षा की पद्धति में यह स्पष्ट किया गया है कि एक विषय का सम्बन्ध दूसरे विषयों से होता ही है और बालक उनको समझने को स्वयं समस्या उपस्थित करता है। इन समस्याओं का सुलझाना ही उसकी ज्ञान-वृद्धि का साधन है। अतएव इसकी अन्य किसी पद्धति में इतनी आवश्यकता नहीं है कि शिक्षक विभिन्न विषयों के ज्ञान-भण्डार को विस्तृत रखे जितना कि बुनियादी शिक्षा में। क्योंकि समवाय और समन्वय की पद्धति जो कि योजना का प्राण है उसमे इसकी नितान्त आवश्यकता है। इस योग्यता के लिये शिक्षक को सदैव अध्ययनशील रहना चाहिये और सदा ही अपने में विद्यार्थी-भाव जागृत रखना चाहिये। ऐसा करने से उसमे स्वयं के विकास का भी क्रम बढ़ता रहता है। यह ठीक भी है क्योंकि मनुष्य जन्म-काल से मृत्यु-पर्यन्त सीखता ही

रहता है। उसका जीवन ही एक पुस्तक है और जीवन के कार्य पुस्तक के पृष्ठ हैं।

शिक्षक में विद्यार्थियों के प्रति सहानुभूति होनी चाहिये तथा उसमें सहनशीलता का गुण होना चाहिये। जैसे माता-पिता विद्यार्थियों के भौतिक शरीर को जन्म देते हैं उसी प्रकार शिक्षक उसके मानवी गुणों को जन्म देकर उसे मनुष्य समाज के योग्य बनाता है। अतएव माता-पिता की भाँति अध्यापक तथा विद्यार्थी में नैसर्गिक स्नेह होना चाहिये। जिस शिक्षक के हृदय में बालकों के प्रति प्रेम नहीं है वह कभी सफल शिक्षक नहीं बन सकता। उसकी सहनशीलता भी माता-पिता की तरह होनी चाहिये। जैसे वह उसके दुर्गुणों से क्रुद्ध होकर उनके दूर करने को प्रयत्नशील रहते हैं और शांत होकर सोचते रहते हैं कि इन दुर्गुणों से बालक की निवृत्ति कैसे हो सकती है उसी सहन-शीलता, धैर्य्य और सहृदयता के साथ शिक्षक भी विद्यार्थियों की कमी को देखता है और उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। जैसे बीज भूमि में डालकर हवा, पानी प्रकाश आदि की समय समय पर व्यवस्था करता रहता है, कभी-कभी उसको इधर-उधर जाने वाली डालियों को काटना भी पड़ता है ठीक उसी तरह शिक्षक भी धैर्य्य के साथ बालक को फूलता-फलता देखने की बाट देखता है।

शिक्षक की प्रसन्न मुद्रा भी उसके एक आवश्यक गुणों में से है। यह विद्यार्थियों को आकर्षण का कारण होती है। प्रसन्न चित्त शिक्षक को बालक घेरे ही रहते हैं। जैसे एक खिले हुए फूल को देखकर प्रसन्नता होती है वैसे ही प्रसन्न चित्त शिक्षक को देखकर विद्यार्थी खिल उठते हैं और फिर कक्षा में एक अच्छे खिले हुए उपवन की शोभा का आनन्द आता है जिससे अध्ययन तथा अध्यापन का कार्य सरस, भार-रहित, सरल ग्राह्य हो जाता है। इस गुण से हीन व्यक्ति कभी सफल शिक्षक नहीं हो सकते। नियन्त्रण की दृष्टि से भी यह आवश्यक नहीं है कि शिक्षक सदैव ही क्रुद्ध तथा

गम्भीर मुद्रा बनाये रहे। अनुशासन में भी प्रेम का बड़ा स्थान है। अनुशासन के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी शिक्षक की देख-रेख में काम करते रहें। कार्यहीन बालकों के लिये ही अनुशासन की समस्या होती है। बालक स्वभाव से ही क्रियाशील हैं। यदि उन्हें काम मिल गया तो वही उनकी शिक्षा तथा विकास का कारण होगा अन्यथा वही गुण उनका विध्वंसकारी प्रवृत्तियों में प्रदर्शित होगा।

मधुर भाषण तथा आकर्षक वर्णन-शैली भी अध्यापक के गुण हैं। शिक्षकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि वह आवश्यकता से अधिक जोर से बोलकर विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर एक ऐसा प्रहार करते हैं जिससे उनका मस्तिष्क जल्दी थक भी जाता है और कभी-कभी उनकी भावना को बड़ी ठेस भी पहुँच जाती है जिससे उनकी मनोवृत्ति पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। मधुर भाषण के साथ धीरे बोलना इसलिये भी आवश्यक है कि विद्यार्थी शिक्षक द्वारा प्रतिपादित विषय को समझने के लिये धीरे बोलने के कारण उसकी ओर ध्यान भी लगाये रहते हैं और थकते भी नहीं हैं।

सबसे बड़ा गुण उसकी सांस्कृतिक विशेषता है। अध्यापक शिक्षा द्वारा समाज का निर्माण करता है। उसे सांस्कृतिक विचारों तथा भावनाओं से अनुप्राणित करता है। अतएव उसका स्वयं का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होना चाहिये। उसको समाज तथा समाज की संस्कृति से पूरा सम्बन्ध रखना चाहिये। अध्यापक ही समाज तथा शिक्षालय को जोड़ने वाली कड़ी है तथा शिक्षालय ही समाज के सांस्कृतिक कार्यों का क्षेत्र है। अतः नवीन शिक्षा के दृष्टिकोण से अध्यापक की प्रतिभा सर्वतोमुखी होनी चाहिये। वह पूरी जनता का शिक्षण स्कूल को केन्द्र बनाकर करेगा और उनके बालकों द्वारा स्कूल को प्रौढ़ों तक ले जाकर उनको शिक्षित करेगा और पालक, बालक तथा शिक्षकों के संगठित प्रयत्न से ही नवीन समाज का निर्माण होगा।

बुनियादी शिक्षक आज के शिक्षकों की भाँति केवल बालकों को आज्ञामात्र ही देने का काम नहीं करेगा, बल्कि स्वयं सदा उनके साथ मार्ग-प्रदर्शक तथा नेता की भाँति रहेगा जो सदा ही आज्ञा के स्थान पर कहेगा कि "चलो हम सब मिलकर यह कार्य करें"। इसके लिये उसे स्वयं को कम से कम परावलम्बन व अधिक से अधिक स्वावलम्बन की आदत डालनी पड़ेगी।

नई तालीम का शिक्षक पूरी तरह से श्रमिक जीवन में श्रद्धा रखेगा और उद्योग द्वारा शिक्षा देने की पद्धति में विश्वास रखेगा। उद्योग में वह शिक्षक अपनी प्रतिभा द्वारा नित्य प्रति नयापन लाने का प्रयत्न करेगा। निरन्तर चिंतनशील रहेगा कि वह उद्योग द्वारा किस तरह अधिक से अधिक ज्ञान देकर दस्तकारी को शिक्षा का वाहन तथा साधन बना सकता है। वह सदा बालकों की योग्यता का ध्यान रखने को उनका निकट निरीक्षण करेगा और इस तरह हरएक परिस्थिति व संयोगों में कार्य करने की क्षमता प्राप्त करेगा।

नई तालीम के शिक्षक के सामने यह लक्ष्य सदैव रहेगा कि भारत एक ग्रामों का देश है जिसमें ६०% ग्राम हैं और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का यथार्थ दर्शन ग्रामों में ही होता है। ग्राम महासागर हैं व शहर एक बूंद की भाँति हैं। हमारी शिक्षा की रूपरेखा तथा शिक्षक का दृष्टिकोण इन बातों को विचारते हुए होना चाहिए। अतएव इस बात का प्रयत्न हो कि शिक्षकों में गाँवों की भावना पैदा हो जिससे वह ग्रामीण-जीवन की समस्याओं को सहानुभूति पूर्ण विचार से समझ सकें व उनके सुलझाने में सफल हों। बापू का कथन था कि मैं भारतवर्ष के गाँवों को सबल व सुदृढ़ देखना चाहता हूँ। आजकल तो गाँव शहरों के लिए जीते हैं। उन पर निर्भर रहते हैं। यह अनर्थ है। शहर गाँवों पर निर्भर रहने लगें और अपने बल को गाँवों से प्राप्त करें अर्थात् स्वयं गाँवों से

लाभ उठाने के बदले स्वयं उनको लाभ पहुँचावें तो हमारा मतलब सिद्ध हो व अर्थ शास्त्र नैतिक बने। ऐसे शुद्ध अर्थ की सिद्धि के लिए शहरी बालकों के उद्योग का देहाती बालकों के साथ सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। इस प्रकार ग्रामों की ओर शिक्षकों की भावना सजग होकर ग्रामों की आवश्यकताओं के अनुकूल ही शिक्षा की रूपरेखा का निर्माण होगा।

शिक्षकों को यह भी ध्यान में रखना होगा कि ग्रामों का देश होने के साथ ही साथ वह एक निर्धन देश भी है। अतएव वे शिक्षण पद्धतियाँ यहाँ के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती जो बहुव्यय साध्य होने के कारण धनाढ्य देशों में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त हमको उस पद्धति को प्रचलित करना है जिसके द्वारा शिक्षा को अनिवार्य किया जाकर अधिकांश अशिक्षित जनता को शिक्षित बनाया जा सके और निरक्षरता निवारण हो। आज की दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति में केवल थोड़े ही धनाढ्य शिक्षा का लाभ उठा सकते हैं किन्तु जिस समाज की रचना समता तथा न्याय के आधार पर होती है उसमें प्रकृति दत्त देने की भाँति शिक्षा का उपभोग भी समान रूप से सब को करने को मिलना चाहिए। ऐसी विचारधारा में नई तालीम के शिक्षक का विश्वास होगा।

नई तालीम के शिक्षक का जीवन की सरलता में विश्वास होगा और इसके लिए वह सदा अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करेगा। उसका ध्येय होगा कि मनुष्य का जितना आन्तरिक उत्थान होता है उसे उतने ही कम बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है।

संक्षिप्त में शिक्षक एक सदाचारी, कर्मठ, समाजसेवी, स्वदेश प्रेम तथा स्वार्थ त्याग की भावना से पूर्ण, त्यागी, तपस्वी, साधक, आशापूर्ण, उत्साही, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा जिसमें किसान का सा उद्योग, वैज्ञानिक की सी सूझ-बूझ, माता का सा

हृदय और कलाकार जैसी अनुभूति होगी। तभी वह बालकों में ब्रह्मा की भाँति सद्गुणों का उदय कर विष्णु की भाँति उनका पोषण कर तथा दुर्गुणों का भगवान शंकर की भाँति संहार करके साक्षात् परब्रह्म की उपाधि का अधिकारी होगा।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:, गुरुर्देवो महेश्वरा।
गुरु:साक्षात्परब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवेनम: ॥

३०

शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा

शिक्षा के उद्देश्य के साथ शिक्षकों की योग्यता का घनिष्ट सम्बन्ध है। शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति और शिक्षा योजना के कार्यान्वित करने का भार तो शिक्षक समाज पर ही है। बुनियादी शिक्षा का ध्येय व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और नैतिक शक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण और संतुलित विकास ही है। सहयोगात्मक कार्यों द्वारा नये समाज का निर्माण इसकी संभावना है। ऐसी दशा में शिक्षक की संकुचित योग्यता उसके असफलता का ही कारण होगी। जैसा चतुर्मुखी विकास हम बालकों का चाहते हैं क्या वैसा ही उनके शिक्षकों का अपेक्षित नहीं है? उनके भी संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास होना चाहिये और उनको भी समाज की संपूर्ण प्रक्रियाओं का व्यावहारिक ज्ञान होना अनिवार्य है। अतः उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना इस योजना का प्रमुख कार्य है।

शिक्षकों के चुनाव का काम सर्व प्रथम है। इस पद्धति में रुचि और विश्वास रखने वाले ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। केवल शासकीय आज्ञा के बन्धन से एक ट्रेनिंग केन्द्र पर एक निश्चित अवधि गुजार देना अपर्याप्त है। कुछ प्रान्तों में चुनाव के लिए ही एक आठ या दस दिन का अल्प कालीन परीक्षण शिविर करने की प्रथा है। उचित प्रकार के शिक्षकों का चुनाव करने के लिए यह

अच्छा ढङ्ग है। इस प्रकार के चुनाव के अभाव में शिक्षण केन्द्रों के सुचारु संचालन में बड़ी वाधा आती है।

इस प्रकार के शिक्षकों के चुने जाने के बाद शिक्षण केन्द्रों पर उनकी उपस्थिति होने के पश्चात् इन केन्द्रों का संगठन सामाजिक जीवन के आधार पर किया जाना पाठ्य क्रम का ही अंग होना चाहिये। यहाँ के कार्यक्रम में बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न सहयोगात्मक कार्यों में अनिवार्य रूप से वे भाग लें। यहाँ उनको सांस्कृतिक जीवन के विकास की सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हों।

उनको समाज की समस्याओं का अधिक से अधिक अध्ययन कराना चाहिये। उन्हें अपने सांस्कृतिक जीवन के मूल श्रोत ग्रामों के जीवन का पूरा परिचय और उससे प्रेम व सहानुभूति होना चाहिए। ग्राम सुधार एवं ग्रामोत्थान के कार्यों में क्रियात्मक सहयोग देने की योग्यता होना चाहिए।

इन नई योजना के कार्यान्वित करने में उतावलापन किया गया तो उसके रूप को विकृत हो जाने की ही संभावना है। इस दृष्टि से आरम्भ में शिक्षकों की तैयारी के लिए पर्याप्त समय ही दिया जाना उचित है। शिक्षकों की अपूर्ण तैयारी से लोगों में प्रतिकूल भावना बन जाने का भय होगा। शिक्षकों पर ही उत्तरदायित्व है कि वह अपनी सफल कार्य पद्धति से पालकों, बालकों और अधिकारियों में इस पद्धति के, प्रति सम्मान और विश्वास पैदा कर सकें शिक्षण केन्द्रों की भी जिम्मेवारी इसमें कम नहीं हैं। नित्य के काम ही नव शिक्षकों की प्रगति और योग्यता के माप दण्ड हैं तो यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षकों के कार्य का समुचित रेकार्ड रखा जाय और उससे सही-सही निष्कर्ष निकाला जाय।

बुनियादी पाठशालाओं की पाठन पद्धति में भी भिन्नता होने के कारण यह आवश्यक है कि वह इस नवीन पद्धति का ठीक-ठीक अध्ययन करलें। शिक्षा में उद्योग के स्थान को समझलें। आत्म--

विकास के अनेक साधनों में से वह प्रमुख है। उसे किस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान देने में काम में लाया जा सकता है इसकी व्यावहारिक और शास्त्रीय योग्यता प्राप्त करलें। उन्हें विद्यार्थियों के जीवन, उनकी सहज प्रवृत्ति, अभिरुचि, अवस्थानुसार विकास का क्रम, उनकी भौतिक और सामाजिक आवश्यकताओं का सही अनुभव हो। समाज और पाठशाला के बीच वह घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता रखते हों। उन्हें बालकों से सहानुभूति और प्रेम हो। पाठशाला में घर का वातावरण पैदा करके उसे आकर्षक बना सकें। शिक्षक के इन सब योग्यताओं के प्राप्त करने के लिए पाठ्य क्रम के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी अध्ययन करना होगा और उनमें पर्याप्त कुशलता प्राप्त करना होगा। शिक्षक के लिए "सब विषयों का कुछ और कुछ विषयों का सब कुछ मालूम होना ही चाहिए।" समवाय और सह-सम्बन्ध की पद्धति ने इसकी और भी अधिक आवश्यकता बढ़ा दी है।

बुनियादी शिक्षा शिक्षा के क्षेत्र में एक अहिंसक क्रान्ति है। शिक्षण केन्द्र इस क्रान्ति की टकसाल है जिनके द्वारा नवीन दृष्टिकोण वाले, कर्मठ, कर्तव्य परायण और कर्म निष्ठ शिक्षक गढ़े जायंगे। श्रमिक जीवन से इनको प्रेम होगा, बुद्धि और श्रम का सुमेल होगा, श्रम के प्रति श्रद्धा और सम्मान होगा जो समाज के अनावश्यक भेद भाव को नष्ट करके समाज में प्रेम और सहयोग को जाग्रत करेगा।

शिक्षण केन्द्र पर एक प्रचुर मात्रा में उत्तम पुस्तकों का पुस्तकालय होना चाहिए। जहाँ एक ओर बालकों के पास पुस्तकों का होना अनिवार्य और आवश्यक नहीं समझा गया है वहाँ दूसरी ओर पुस्तकालय का भण्डार विशाल होने की सिफारिश की गई है। बालकों की रुचि और उत्सुकता को जागृत किया जाने पर उसकी पूर्ति के साधन शिक्षक और पुस्तक ही हैं जो दोनों ही बुनियादी स्कूल में अचूक मित्र की तरह सदा ही साथ रहते हैं।

शिक्षकों को आनन्द विधायक और सांस्कृतिक कार्यों का अवसर निरन्तर मिलते ही रहना चाहिए। सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक उत्सव, संगीत, कला और साहित्य ये सब मानव विकास के प्रधान साधन हैं इनके द्वारा इनसे सम्बन्धित अनेक बौद्धिक विषयों के ज्ञान के साथ ही साथ आयोजनों की रूपरेखा बनाना, व्यवस्था करना और संचालन करने की व्यावहारिक योग्यता प्राप्त होती है।

पाठशाला के संग्रहालय की उचित व्यवस्था और संगठन भी एक कार्यक्रम का अंग है। समय समय पर शिक्षकों के कार्यों की प्रदर्शिनी भी शिक्षा का एक साधन है। शैक्षणिक यात्राएँ भी शिक्षकों की योग्यता और दृष्टिकोण के विस्तार में सहायक होती हैं।

शिक्षण केन्द्र का दैनिक कार्यक्रम पूरे समय समय का सुगठित होना चाहिये जिसमें आलस्य को गुंजायश न हो। कार्यों का समुचित वितरण हो। उसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जाना चाहिये। इसके लिए केन्द्र संचालकों को बड़ी सावधानी, दूरदर्शिता और तत्परता से काम लेने की आवश्यकता है।

ट्रेनिंग एक साधन है। ट्रेनिंग स्कूल वास्तव में इस साधना में योग देने वाले होना चाहिये। शिक्षा साधना जीवन के आदि से अन्त तक की क्रिया है। ट्रेनिंग स्कूल जीवन के इस अल्पकाल में शिक्षण की संपूर्णता का दावा नहीं कर सकते किन्तु यह अवश्य है कि वह साधकों को साधना के एक ऐसे मार्ग की ओर उन्मुख कर सकते हैं जिससे वह आगे ही आगे बढ़ते-बढ़ते स्वयं की उन्नति के साथ समाज की उन्नति करके लोक कल्याण के महान् कार्य में योग दे सकते हैं। पाठशालाएँ विद्या मन्दिर हैं और शिक्षक मन्दिरधारी हैं। इन मन्दिरधारी साधकों को अच्छी साधना प्राप्ति के लिए उत्तम मठों और उन्हीं के अनुरूप मठाधीशों की आवश्यकता है। जब शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा इन भावनाओं को लेकर

होगी तब राष्ट्र के नव निर्माण की योजना के सफल होने की संभावना है।

शिक्षण केन्द्रों के सामाजिक संगठन पर पृथक् रूप से विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला गया है। शिक्षण केन्द्र के जीवन की झांकी का दर्शन भी एक पृथक लेख द्वारा इसी पुस्तक में कराया गया है।

३१

शिक्षणकेन्द्र का संगठन

शिक्षा के उद्देश्य के अनुसार ही शिक्षण केन्द्र के सामाजिक संगठन की रूप रेखा होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य समाज में रह कर अपनी विशेपताओं को विकसित करे और अपने को समाजोपयोगी वना सके यह आज का माना हुआ शिक्षा का उद्देश्य है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपनी विशेपताओं को प्रकाश में लाकर सम्पूर्ण करने का अवसर यथा संभव समाज में ही मिलना चाहिए। यह अवसर भी सामाजिक सम्पर्क से ही मिल सकता है कि कहाँ तक मनुष्य अपनी विशेपताओं को विकसित कर समाज के उपयोग में ला सका है। अतः शिक्षण केन्द्र की समाज व्यवस्था उपर्युक्त उद्देश्य को ध्यान में रख कर की जायगी।

दूसरी वात ध्यान में रखने योग्य यह है कि हमारे देश का शासन विधान जन तन्त्रीय है। समानता, भ्रातृभाव, स्वतन्त्रता और न्याय उसके आधार स्तम्भ है। शिक्षण केन्द्र हमारे इस सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि अथवा उसके प्रतिविम्ब ही होना चाहिए। शिक्षण केन्द्र लोकतन्त्रीय जीवन का एक छोटा नमूना ही हो। इसी दृष्टि को रखकर उनका संगठन और व्यवस्था होना चाहिए।

शिक्षण केन्द्र की व्यवस्था तथा संगठन लोकतन्त्रीय प्रणाली के ही आधार पर वांछनीय है। इससे स्वयं प्रेरित स्वयं संचालित और सहयोगी समाज का निर्माण हो सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के

लिए एक व्यवस्थापक मण्डल बना दिया जाता है इसी को मन्त्रि-मण्डल भी कहते हैं। कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार मन्त्रियों और उपमन्त्रियों की संख्या निर्धारित की जाती है।

प्राय: मन्त्रिमण्डल के सदस्य निम्न लिखित होते हैं और उनके कर्तव्य और अधिकार भी नीचे दिए जा रहे हैं। इसमें प्रत्येक ट्रेनिंग केन्द्र की आवश्यकतानुसार हेर फेर किया जा सकता है। इनका चुनाव प्रतिमास एक मास के लिए होता है। इस दृष्टि से कि प्रत्येक ट्रेनिंग केन्द्र के सदस्य को कार्य करने का अनुभव प्राप्त हो सके एक व्यक्ति को एक ही बार भार ग्रहण करने का अवसर दिया जाता है। मास के अन्त में मन्त्रि-मण्डल अपनी रिपोर्ट समाज को प्रस्तुत करता है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मन्त्रि-मण्डल का प्रत्येक सदस्य अपने मन्त्रि-मण्डल को और समाज को उत्तरदायी है।

मन्त्रि मण्डल के सदस्यों की सूची और कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा—

प्रधान मन्त्री—मन्त्रि-मण्डल का संचालन और सामाजिक कार्यों की व्यवस्था। समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकतानुसार कार्यों का बटवारा। यह प्रति सप्ताह आठ दिन के लिए किया जाता है। काम के अनुसार ही जन संख्या निश्चित की जाती है।

गृहमन्त्री—यही उपप्रधान मन्त्री का कार्य करते हैं। नवीन आगन्तुकों का परिचय और अतिथियों का स्वागत व प्रबन्ध भी इसी विभाग का कार्य है। आवश्यकतानुसार उपमन्त्री ले लिए जाते हैं। समाज के सामान की व्यवस्था व देख-रेख इसी विभाग का कार्य है।

भोजन मन्त्री—केन्द्र के सामूहिक भोजन सम्बन्धी व्यवस्था जिसमें उपलब्ध वस्तुओं से सतुलित एवं स्वास्थ्य प्रद भोजन मिल सके। भोजनालय सम्बन्धी पृथक नियम बना लेना भी उचित होता है। भोजनालय सम्बन्धी सलाहकार समिति और हिसाब किताब की जाँच

के लिए भी एक पृथक समिति रखना उपयोगी होता है।

सफ़ाई और स्वास्थ्य मन्त्री—केन्द्र के आधीन भूखण्ड, भवनों, कुओं, शौचादि ग्रहों की सफ़ाई रखना इस विभाग का कार्य है। समाज के सदस्यों के वजन का लेखा रखना और बीमारों की औपधि पथ्य और सुश्रूषा भी इस विभाग का कार्य है।

संस्कृति मन्त्री—सांस्कृतिक कार्यों का आयोजन, राष्ट्रीय, धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव त्यौहार, नैमित्तिक प्रार्थना, और अन्य मनोरंजन कार्य, शैक्षणिक प्रवास, प्रदर्शिनी पाठशाला की पत्रिका का प्रकाशन इस विभाग के मुख्य अंग हैं।

अर्थ मन्त्री—समाज के धन को सुरक्षित रखना और सहकारी संस्था आदि के आयोजन द्वारा समाज की आवश्यक वस्तुओं की सुलभ प्राप्ति की व्यवस्था इस विभाग का कार्य है।

शिक्षा मन्त्री—कक्षा में उपस्थिति का लेखा रखना, शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच दैनिक डायरियों और नोट्स के आदान प्रदान की व्यवस्था। शैक्षणिक कार्यक्रम का संचालन। शिक्षार्थियों के अवकाश की स्वीकृति प्राप्त करना और अन्य तत्सम्बन्धी सूचनाएँ मण्डल प्रतिनिधियों द्वारा उनके मण्डलों को यथा समय भिजवाना इनका कार्य होता है।

उद्योग मन्त्री—ट्रेनिंग केन्द्र पर जितने मूल उद्योगों की व्यवस्था हो उतने ही उपमन्त्री सहायता के लिए ले लेना उचित है। प्रत्येक उद्योग के कार्य संचालन, संगठन और व्यवस्था में सहायता देना इनका कार्य है।

सामाजिक कार्य के समुचित संचालन के लिए ट्रेनिंग केन्द्र के सदस्यों द्वारा प्रति वर्ष एक विधान बनाया जाना भी आवश्यक ही है। स्वयं निर्मित विधान के आश्रय से समाज स्वयं प्रेरित होगा और उपर्युक्त मन्त्रि-मण्डल की रचना के आधार पर वह स्वयं संचालित या स्वशासित होगा। शिक्षण केन्द्र का यह जीवन उनको एक लोक-तन्त्रीय समाज के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अभ्यास का अवसर देगा। समाज का कार्य ठीक-ठीक चलता जाय उसके लिए यह आवश्यक है कि नित्य प्रति सामाजिक सभा का समय नियत किया जाय जिसमें सामाजिक समस्याओं का हल हो। समवाय पद्धति के अनुसार इस समय का शिक्षा की दृष्टि से भी अधिक उपयोग किया जा सकता है। साथ ही समाज के दृढ़ संगठन को भी यह आवश्यक है कि आज के दिन के उत्पन्न हुए मत भेद और मनोमालिन्य आज के दिन ही समाप्त हो जाँय और उनमे गलत पैदा न हो सके।

दूसरा नियम जिसके लिए ट्रेनिंग केन्द्र प्रयत्नशील रहेगा वह है अधिक से अधिक स्वावलम्बन और कम से कम परावलम्बन। मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताएे—भोजन, वस्त्र और गृह हैं अतः उनके लिए स्वावलम्बन की दृष्टि से निम्नलिखित प्रधान प्रवृत्तियों के लिए सुझाव हैः—

(१) भोजन सामग्री का उत्पादन और भोजन बनाना।
(२) रुई से लेकर वस्त्र तक की सब क्रियाएें।
(३) व्यक्तिगत तथा सामाजिक सफाई व स्वास्थ्य की व्यवस्था।
(४) मनोरञ्जक एवं सांस्कृतिक कार्य—
प्रार्थना, उत्सव, त्यौहार, कला, संगीत, खेल और अन्य मनोरञ्जन के कार्य इसके ही अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त स्वावलम्बन के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए समाज की प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति में सबसे भेद भाव रहित होकर समानता से सहयोग के साथ भाग लेना चाहिये। सहयोग स्वावलम्बन की

श्रेणी में नहीं आता है। वह तो एक सुसंस्कृत एवं जीवित समाज का लक्षण है। प्रेम और सहयोग सामाजिक संगठन की आधार शिला है यह न्यायपूर्ण आदान-प्रदान समाज के संगठन की कड़ियों को अधिकाधिक जोड़ सकेगा। इसी हेतु समाज के कार्यों की पूर्ति के हेतु समाज के प्रत्येक सदस्य को तत्पर रहकर समानता से प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेना अनिवार्य होना चाहिये।

यथा सम्भव समाज किसी को पारिश्रमिक देकर कर्मचारी नहीं रखेगा। समाज के सहयोगी प्रयत्न से कार्य सम्पन्न न होने की दशा में ही इसका आश्रय किया जाना उचित होगा किन्तु दृष्टि यह रहे कि ऐसे व्यक्ति को हीन और हेय कर्मचारी की दृष्टि से न देखा जाय वरन् हमारे सहयोगी की भाँति ही वह हमारा साथी समझा जाय। इसके लिए एक सैद्धान्तिक नियम बड़ा ही उपयोगी है। वह नियम यह है—

"मैं किसी से किसी ऐसे काम को न तो करने को कहूँगा और न स्वयं करना ही स्वीकार करूँगा जिसको कि मैं प्रसन्नता से उसके लिए करने को तत्पर न हो सकूँ।"

समानता की कितनी सुन्दर भावना इस विचारधारा में निहित है। जिस समाज के सदस्यों में यह विचारधारा प्रवाहित हो उसकी जड़ न्याय, प्रेम, समानता और भ्रातृ भाव पर पड़ने में क्या सन्देह किया जा सकता है।

सामाजिक भावना की जागृत के लिए इस सिद्धान्त ने भी नियमों में स्थान पा लिया है कि समाज के प्रत्येक सदस्य की क्रियाएँ समाज के हित की ओर प्रवाहित होंगीं। समाज के हित में ही वह अपना हित समझेगा। इसलिए इन शिक्षण केन्द्रों पर यह आवश्यक है कि समाज की प्रत्येक सामूहिक क्रियाओं में प्रत्येक समानता से भाग ले।

भावना यह रहे कि हमारा पूरा समाज उन्नति करे। उन्नतशील

समाज में ही व्यक्ति की उन्नति है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को उठाकर समाज को उन्नत बनावे यह उसकी दातव्य प्रवृत्ति है और उसी उन्नत समाज में रहकर अपना अधिकाधिक विकास करे यह समाज की देन है। यह व्यक्ति का समाज के साथ न्यायपूर्ण आदान-प्रदान है।

समाज में इस ओर भी लक्ष्य रखा जायगा कि कम से कम परावलम्बन और अधिक से अधिक स्वावलम्बन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यकता है कि हमारी आवश्यकताऐं न्यूनतम हों। अतः जीवन की साधारणता और सरलता ही इसका साधन है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की आन्तरिक विशालता बढ़ती जाती है वह वाह्याडम्बरों का स्वयं ही परित्याग करता जाता है। ये वाह्याडम्बर आवश्यकता की पूर्ति के ही साधन नहीं होते वरन् मनुष्य अपनी योग्यता की कमी को पूरा करने के लिए इन साधनों का आश्रय लेकर लोगों को भ्रम मे डालता है। क्या यह नीति न्यायपूर्ण है ? अतः न्याययुक्त समाज इस प्रकार की अनावश्यक तथा दिखावे मात्र की वस्तुओं को काम में नहीं लेगा।

एक विशेष दृष्टि जो इस समाज को रखना है वह यह है कि भारत एक कृषि प्रधान ग्रामों का देश है। हमारी संस्कृति का उदय भी वहाँ ही हुआ और बुनियादी संस्कृति भी वही है अतः ग्रामीण वातावरण और जीवन से प्रेम रखना इस समाज का कर्तव्य होगा। अधिक से अधिक ग्रामों तथा उनके जीवन के सम्पर्क मे आकर उनके उत्थान में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहेगा। यहाँ का समाज शिक्षा के उद्देश्य को लेकर निर्मित हुआ है अतः ग्रामों की आवश्यकताओं का यहाँ की शिक्षा के कार्यक्रम मे स्थान दिया जायगा। अच्छा हो यदि यथासम्भव शिक्षण केन्द्र का वातावरण ग्रामीण हो जिससे अधिक से अधिक ग्रामों की समस्याओं को प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मिल सके। शिक्षा क्षेत्र मे ज्ञान

करने वालों को यदि बड़ा से बड़ा भागीरथ प्रयत्न करना है तो वह है ग्रामों को उठाना। यह जब ही संभव है जब हमको ग्रामीण जीवन से प्रेम और सहानुभूति हो।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न बातें यद्यपि सैद्धान्तिक ही हैं तो भी परिस्थिति और वातावरण के अनुसार इनमें हेर-फेर करके न्यूनाधिक रूप में इनका उपयोग किया जा सकता है।

३२

अध्यापन विद्यापीठ का जीवन

भारत में बुनियादी शिक्षा का मूल केन्द्र सेवाग्राम ही रहा है। इसी मातृसंस्था की प्रेरणा और दीक्षा ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों का मार्ग दर्शन किया है। प्राय: सब ही शिक्षण केन्द्र इसी के प्रकाश से आलोकित हैं। अत: हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के नई तालीम भवन का दैनिक कार्यक्रम ही एक आदर्श चित्र उपस्थित करता है।

यह प्रधान केन्द्र सेवाग्राम की पावन तीर्थ एवं तपोभूमि में स्थित है जो विश्व वन्द्य बापू की तपस्या की गौरव-गाथाओं से यशो मण्डित है। इसमें आश्रम के स्थाई विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ भारत के भिन्न-भिन्न कोनो से आने वाले शिक्षार्थियों को मिलाकर संख्या लगभग २५० हो जाती है। यहाँ की यह झाँकी अन्तःप्रान्तीय और आँशिक रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय भी है। शिक्षा संसार के तपे हुए तपस्वी और अनुभवी विद्वानों का यह समागम ही स्वयं शिक्षा प्रद है। यहाँ के संचालकों का तो कहना ही क्या है—पूजनीय आर्यनायकम्जी जिनको आश्रमवासी "बाबाजी" कह कर सम्बोधित करते हैं व स्नेहमयी गुरुपत्नी श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् जिनको 'माँ' कह कर पुकारते हैं—जो पूर्वात्य व पाश्चात्य शिक्षा के धुरन्धर प्रकाण्ड पंडित हैं और शिक्षा क्षेत्र आदि अनेक रचनात्मक कार्यों में वर्षों से बापू की तपस्या की धूनी में लकड़ी डालते रहे हैं: ऐसे कर्मठ तपस्वी ऋषियों पर इस गुरुकुल के निवास

संचालन का भार है। यह प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त प्रत्येक कार्य-क्रम में बोलती हुई पुस्तक की भाँति सदैव साथ रहते हैं।

आश्रम की रचना बापू की कच्ची कुटी के चारों ओर है। यत्र तत्र फैले हुए बालक व बड़े भाई बहिनों के भिन्न-भिन्न छात्रावास औद्योगिक विभाग, गोशाला, दुग्धशाला, कार्यालय, पुस्तकालय, संग्रहालय, शिक्षा भवन और प्रार्थना भवन आदि हैं। बीच-बीच में लहलहाते हुए खेत, हरे भरे बगीचे और मुस्कराती हुई वाटिकाओं से युक्त यह लगभग २०० बीघे भूखण्ड अपने अन्न, वस्त्र, निवास शिक्षा और संस्कृति के साथ एक अहिंसात्मक रचना चित्र उपस्थित करता है।

देश के भिन्न-भिन्न कोने से आये हुए, भिन्न-भिन्न अवस्था व योग्यता वाले, भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी, भिन्न-भिन्न भाषा भाषी भाई बहिन एक साथ रहकर एक परिवार के अंग बने हुए भिन्नता में एक्यता स्थापित कर एक ईश्वराधना व मानवता की उपासना करते हैं। इनमें जाति पाँति, वर्ण, वर्ग, धर्म, रंग व देश का पक्षपात नहीं है। प्रत्येक अपनी योग्यता एवं शक्ति अनुसार काम करता है और आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है। समाज अधिक से अधिक स्वावलम्बन और कम से कम परावलम्बन के सिद्धान्त को मानता है, यही कारण है कि यहाँ की व्यवस्था में पृथक वैतनिक सेवक नहीं रखा जाता और जीवन सम्बन्धी कार्य समाज में ही बटे हुए हैं।

कार्य संचालन जनतन्त्र प्रणाली द्वारा ही होता है। प्रति वर्ष आने वाले शिक्षार्थी अपने सामाजिक विधान का निर्माण करते हैं। मन्त्रि-मण्डल का चुनाव प्रति मास एक मास के लिए होता है। यह मन्त्रि-मण्डल व्यक्तिगत रूप से व सामूहिक रूप से समाज को उत्तर-दायी होता है। यह मण्डल सफाई, स्वास्थ्य, भोजन, शिक्षा खेती, अर्थ, गृह, उद्योग और संस्कृति विभागों के संचालन द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था करता है व नित्य प्रति होने वाली दैनिक आम सभा में अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। यह सभा शिक्षा का ही

एक साधन है जिसमें नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, राजनीति अर्थ-शास्त्र, जनतन्त्र शासन की उच्च शिक्षा के तत्वों की मीमाँसा व विवेचना द्वारा जीवन सम्बन्धी अनेक विषयों पर चर्चा का अवसर प्राप्त होता है जिससे व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि व जीवन की समस्याओं के सुलझाने की योग्यता बढ़ती है। भिन्न-भिन्न विभाग के कार्यों का बटवारा तत्सम्बधित व्यवस्थापकों द्वारा साप्ताहिक होता है। ध्यान इस बात का रखा जाता है कि कोई साथी बेकाम भी न रहे व बारी-बारी से प्रत्येक काम का अनुभव प्रत्येक को हो जाय।

ब्राह्म मुहूर्त में प्रातःकाल ४ बजे की घण्टी दिनचर्या का आरम्भ करती है और चारों ओर आश्रमवासी शौचादि से निवृत्त होते दीखते हैं। एक टोली कलेवा बनाने को भोजनशाला में जाती है। कलेवा में नमकीन या मीठा दलिया अथवा उबले हुए चने और एक प्याला मट्ठा मिलता है। एक टोली पानी भरती है एक पीसने को जाती है तो दूसरी भाजी काटने को जाती है व तीसरी प्रार्थना भवन में चटाइयाँ बिछाती है। आश्रम मे बस यही एक मात्र चटाइयाँ हैं जो भोजनालय में शिक्षालय में व सभा मे समान रूप से ऊँच नीच के भेद भाव को छोड़ कर सब के बैठने के काम मे आती है। ५॥ बजे सब प्रार्थना भवन में एकत्र हो जाते हैं और चारों ओर शान्ति का साम्राज्य हो जाता है। अरुणोदय की लालिमा से रंजित आसमान की ओर मुख किए हुए नेत्र बन्द किये सब परम पिता परमात्मा की मूक प्रार्थना मे लीन हो जाते हैं। इस शान्ति के पश्चात उपनिषद पाठ से प्रार्थना आरम्भ होती है व अनेक धर्मों की प्रार्थना का समावेश इसमें रहता है। प्रार्थना के पश्चात इसी स्थान पर कलेवा दे दिया जाता है।

कलेवा के बाद आधा घण्टा सफाई विभाग का कार्य होता है। छात्रावास, शिक्षालय, प्रार्थना भवन, भोजनालय, कुआ, नालिया कलेवा बर्तन सफाई, पानी भरना, शौचादि गृह की स्वच्छता इन विभाग का ही कार्य है। मल मूत्र विसर्जन को चलते फिरते पहिये-

दार शौचादिगृह हैं जो खुदी हुई नालियों पर चलाए जाते हैं व गत दिवस के मल को घास पत्ती व कूड़े से ढक कर आगे नालियाँ खोद दी जाती है। इस प्रकार चार मास में यह पूरे खेत को बहुमूल्य खाद्ययुक्त : रके उत्तम खाद्य सम्पत्ति के रूप में पुनः प्राप्त हो जाता है और प्रकृति का स्वभाविक चक्र राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में सहायक हो जाता है। कूड़ा करकट, घास, फूस, पत्तियाँ, गोबर आदि हमारी इस सम्पत्ति के भण्डार को बढ़ाते ही रहते हैं जो वनस्पति सृष्टि का जीवन और उनके द्वारा हमारा जीवन है।

इसके पश्चात भारतीय व्यापक जीवन का कार्य खेती या बगीचे सम्बन्धी कार्य क्रम आरम्भ होता है। इसकी अवधि प्रायः १॥ घण्टा होती है। आवश्यकतानुसार यह अवधि सुबह या शाम दोनों समय या लगातार एक ही समय पाँच घण्टे तक को भी बढ़ा दी जाती है खेती के कार्य में आचार्य मण्डल का साथ अटूट ज्ञान के भण्डार की तरह सदा साथ रहता है और प्रत्येक खेत व बगीचे की क्यारी एक बड़े से बड़े शिक्षा सिद्धान्त शिक्षण का भवन बन जाती है। बीच-बीच में श्रम के परिहार को सुमधुर स्वर लहरी में सूर, तुलसी कबीर आदि सन्तों की भावात्मक वाणी का तथा ग्राम्य गीतों का गायन होता है।

खेती से लौट कर स्नानादि से निवृत होकर सब शिक्षा भवन में एकत्र होते हैं। आरम्भ में मन्त्रि-मण्डल गत दिवस के कार्यों के विवरण की संक्षिप्त चर्चा करता है व आगामी सूचनाएँ देता है और समाज द्वारा किये गए प्रश्नों का उत्तर देता है; यह समाज शास्त्र और जनतन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा का अच्छा समय होता है। इसके बाद बुनियादी तालीम के सिद्धान्त, शिक्षा पद्धति, मनोविज्ञान, समवाय पद्धति, पाठशाला संगठन, बापू का तत्वज्ञान, समाज शास्त्र आदि गम्भीर विषयों का विवेचन व प्रवचन होता है। विद्वान आचार्यों द्वारा जीवन साधना के उच्च तत्वों का विवेचन परिश्रम

जन्य जीवन के श्रम को भुला कर ज्ञानानन्द सागर में मग्न कर देता है। यह है ऋषि प्रणीत आश्रम का जीवन।

अब मध्यान्ह है आश्रमवासी अपने-अपने भोजन के पात्रों के साथ भोजनशाला की ओर अग्रसर होते हैं और थोड़ी ही देर में भोजन स्थल पर सब अपनी-अपनी थालियों में चावल आदि धान्य लिये साफ करते ही दृष्टि आते हैं। यहाँ पर एक टोली पहिले ही से भोजन बनाने में संलग्न थी जो अपना कार्य करके निवृत्त हो चुकी है। भोजन परोसने के बर्तनों में रखा जाकर बर्तन साफ करने वालों की टोली के सुपुर्द कर दिये हैं। एक टोली शाम के लिये पानी भरती है दूसरी भाजी काटती है। इस प्रकार आधा घण्टे में सब कार्य समाप्त होकर भोजन एक सामूहिक यन्त्र से आरम्भ होता है जिसमें भोजन को जीवन के हेतु उदर पूर्ति व यज्ञ कर्म कहा है। भोजन मे ज्वार की रोटियाँ, हाथ का कुटा हुआ चावल, दाल और शाक होता है साथ में एक चम्मच यहाँ का निकाला हुआ तेल और अन्त में एक प्याला मट्ठा होता है। इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया है कि साधारण भोजन भी वैज्ञानिक रूप से बनाये जाने व सन्तुलित किये जाने पर उचित परिमाण में तापमान देकर स्वास्थ्य प्रद हो सकता है। सामाजिक जीवन मे यदि यही मनोवृत्ति बन जाय कि उच्च वर्ग के लोग अपने जीवन स्तर को कुछ उतार दें और निम्न वर्ग वालों का स्तर उठाने का प्रयत्न किया जाय तो विपमता की भावना नष्ट होकर समाज में सच्ची समता स्थापित हो सकती है। भोजन के पश्चात सब अपने-अपने बर्तन साफ करते हैं व सामूहिक काम की टोलियाँ थोड़े ही समय सम्पूर्ण स्थल को निर्मल बना देती हैं।

भोजन के पश्चात एक घण्टा विश्राम का समय है। इसके पश्चात की घण्टी दिनचर्या का उत्तरार्ध आरम्भ करती है। १२ बजे से १ घण्टा मौन कताई आरम्भ होती है, जिसको 'सूत्रयज्ञ' कहते हैं और स्वावलम्बन व समाज सेवा द्वारा ईश्वरोपासना का अंग मानते हैं।

हस्त कौशल्य इसके पश्चात का कार्यक्रम है। पूरा समाज अपने-अपने विभागों में विभक्त हो जाता है। कताई वर्ग में कच्ची रुई से कातने तक की क्रिया की जाती है। इसी प्रकार बुनाई विभाग अपने कार्य में व्यस्त रहता है। अवसर पाकर भाषा, गणित, समाज शास्त्र, सामान्य विज्ञान आदि का ज्ञान समवाय पद्धति द्वारा दिया जाता है। दूसरे विभागों का कार्य भी इसी भाँति संचालित रहता है।

४ से ५३ तक का समय खेती, बागवानी, पुस्तकालय, विशेष विषय अध्ययन सांस्कृतिक कार्य क्रम की तैयारी, कभी-कभी मनोरंजक कार्यक्रम खेल क्रीड़ा आदि के आयोजन में व्यतीत होता है व इसके पश्चात दोपहर की भाँति भोजन की तैयारी का आरम्भ होता है। भोजन में चावल के स्थान पर खिचड़ी व मट्ठा के स्थान पर दूध मिलता है।

७३ बजे प्रार्थना स्थल पर प्रायः खुले मैदान में प्राकृतिक प्रकाश में प्रार्थना का आयोजन होता है। प्रातःकाल की भाँति सब धर्मों की प्रार्थना होती है व भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सन्तों के भजनों का मधुर संगीतमय गायन और नाम कीर्तन इस समय की प्रार्थना की विशेषता है। वास्तव में इस समय का अमोघ शान्ति का वातावरण एकाग्रता तन्मयता प्रदान कर अध्यात्मिक चिन्तन की ओर प्रवृत करता है।

रात्रि को ८ से १० तक व्यक्तिगत अभ्यास और अध्ययन का समय है। इस समय शिक्षार्थी अपनी-अपनी नैमित्तिक डायरियाँ भी लिखते हैं जो मनोवैज्ञानिक आचार्यों द्वारा जाँची जाती हैं व उनसे सम्बन्धित विचारों पर विचार विनिमय व शंका समाधान का अवसर दिया जाता है।

यहाँ के उत्सवों, त्यौहारों व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का वर्णन भी उल्लेखनीय है। इनमें भी पूर्ण सरलता व भावात्मकता का अनुभव होता है। इन पर्वों पर कोई विशेष धन राशि वाह्याडम्बर दिखाने में

व्यय नहीं की जाती है। यहाँ का सिद्धान्त है कि हमारा आयोजन ही क्या जिसमें हमने कुछ न कुछ राष्ट्रीय सम्पत्ति में मिलाया न हो अत: आयोजनों मे सेरों सूत कात कर कपड़ा बनाना आदि अनेक-अनेक निर्माण कार्य व सेवा कार्यों का समावेश होता है। सांस्कृतिक कार्य क्रम भी अपने ही अनूठे ढंग के होते हैं। प्राचीन संस्कृति के अनुरूप त्यौहारों के प्रदर्शनों की योजना की जाती है। ग्राम्य-गीत, ग्राम्य नृत्य, नाटक, प्रहसन भी इस कार्यक्रम के अंग रहते हैं। भिन्न प्रान्तों की संस्कृति के परिचय के लिये प्रत्येक प्रान्त के लिए समय दिया जाता है जिसमें प्रान्तीय जीवन, प्रदर्शिनी, प्रदर्शन, प्रवचन आदि कार्यक्रमों के द्वारा प्रान्तों का परिचयात्मक चित्र उपस्थित किया जाता है। इस पद्धति में किस शिक्षा शास्त्री को मतभेद होगा कि इस प्रकार से गौण रूप से ऐतिहासिक व भौगोलिक शिक्षण सैकड़ों पृष्ठों की पुस्तक से भी कहीं अधिक उपयोगी ज्ञान दे देता है। क्या अब भी समवायी शिक्षण पद्धति में सन्देह है ?

वास्तव में इस महाविद्यालय ने यह व्यावहारिक पाठ पढ़ाया है कि जीवन के आदि से अन्त तक मनुष्य शिक्षार्थी ही है और उसके जीवन का प्रत्येक कार्य शिक्षा का साधन है। इसीलिए बुनियादी शिक्षा को जीवन की शिक्षा और जीवन द्वारा शिक्षा कहा गया है। सफल संचालक शिक्षा केन्द्रों का संगठन इसी मूल सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।

———

३३

शिक्षा के सिद्धान्त

अध्यापन एक कला है और वह भी है वैज्ञानिक। उसमें विज्ञान के नियम लागू हैं। यह नियम है निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और अनुभव, मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा शास्त्रियों ने वर्षों के अध्ययन और मनन के पश्चात कुछ शिक्षा सिद्धान्तों को निश्चित किया है जो सूक्ति और सूत्र के रूप में अध्यापन शास्त्र में स्थान पाए हुए हैं। इनकी सहायता से शिक्षण का क्रम स्वभाविक बन जाता है और ज्ञान की एक शाखा का सम्बन्ध दूसरे से जुड़ जाता है।

आज की नवीन पद्धति में काम के द्वारा ज्ञान को जोड़ने की सह सम्बन्ध की प्रणाली प्रचलित की गई है। बुनियादी शिक्षा में भी इसी आधार पर दस्तकारी और जीवन की क्रियाओं को ही शिक्षा का साधन बनाया गया है। इस दृष्टि से भी इन सर्वमान्य सिद्धान्तों को इस पद्धति में कहाँ तक काम में लाया जा सकता है विचारणीय है। ये सिद्धान्त यद्यपि एक दूसरे से मिलते-जुलते से ही प्रतीत होते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उन पर विचार करने से भिन्न-भिन्न विषयों एवं परिस्थितियों में अध्यापन कार्य में यथा समय उपयोग में लाए जा सकते हैं। यह सूक्तियाँ मूल मंत्र के रूप में शिक्षक के मार्ग प्रदर्शन को सदैव सहायक है। इनके द्वारा

विषय को समझाने में अनावश्यक मानसिक श्रम न होकर वह सरल और ग्राह्य हो जाता है। ये मान्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—

(१) स्थूल से सूक्ष्म की ओर—

इसी को प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाना कहते हैं। इसका अर्थ है कि जब कभी भी नया ज्ञान सबसे पहिले दिया जाय तो वह प्रत्यक्ष वस्तुओं द्वारा ही दिया जाय। शिक्षा की अनेक नवीन प्रचलित पद्धतियाँ हैं जिनमें अनेक अनेक प्रत्यक्ष साधनों का उपयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष वस्तुओं को काम में तो अवश्य ही लाया जाता है किन्तु उनका उपयोग कृत्रिम हो जाता है। उदाहरणार्थ गणित सिखाने में बीजे, गोलियाँ और फ्रेम आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्री। इनका उद्देश्य केवल उस विषय की शिक्षा मात्र से ही सम्बन्धित रहता है। व्यावहारिक जीवन में उसके व्यावहारिक मूल्य को आँकने का अवसर नहीं मिलता है। शिक्षा तो जीवन के लिए है उसमें व्यवहार शून्यता नहीं हो सकती है। अनेक चार्ट आदि की सहायता से विद्यार्थियों को गज, फीट आदि के प्रश्न निकालने का अभ्यास तो अवश्य करा दिया गया किन्तु अनुभव होता है कि गज या फीट का प्रत्यक्ष ज्ञान विद्यार्थियों को नहीं है। इसी प्रकार भूगोल आदि अनेक विषयों में प्रत्यक्ष के अभाव में ज्ञान अधूरा रह जाता है। सदा ही प्रत्यक्ष से काम लेना संभव नहीं है इसीलिये अनेक प्रकार की सहायक सामग्री की आवश्यकता होती है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। श्याम पट भी इसी प्रकार हमारे सूक्ष्म विचारों को स्थूल चित्र देकर ज्ञान के स्पष्टीकरण में सहायता करता है। उसके ध्यानपूर्वक उपयोग के सम्बन्ध में पृथक रूप से लिखा गया है।

बुनियादी शिक्षा में जहाँ कि शिक्षा मूलोद्योग द्वारा दी जाना निश्चित किया है स्वभाविक क्रियाओं में ही सब ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्येक वस्तु व्यावहारिक रूप से सामने है उसके निरीक्षण, परीक्षण का पूरा अवसर है। न केवल वस्तु का

ही प्रत्यक्षीकरण है किन्तु वस्तु के उपयोग व व्यवहार का भी पूरा प्रत्यक्षीकरण है। मनुष्य के जीवन के क्षेत्र में वस्तु का स्थान, उपयोग, मूल्य, प्राप्ति का स्थान, प्राप्ति के साधन आवश्यकतापूर्ति आदि ज्ञान की अनेक शाखाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उदाहरणार्थ कताई में रुई की उत्पत्ति कृषि तथा विज्ञान की ओर ले जाती है। कताई की क्रियाएँ गणित की भिन्न-भिन्न शाखाओं से जोड़ती है, यांत्रिक क्रियाएँ भौतिक विज्ञान की शाखा हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार की रुई अनेक देशों की भौगोलिक स्थिति का अवसर देती है और भिन्न भिन्न देशों के सम्बन्ध तथा ऐतिहासिक ज्ञान की ओर संकेत करती है। यह सब स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर ही जाना है और नई तालीम की पद्धति में वह कृत्रिम नहीं वरन् स्वभाविक है। जैसे-जैसे बालक की अवस्था बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसे स्थूल वस्तुओं की आवश्यकता कम होती जाती है।

(२) ज्ञात से अज्ञात की ओर—

मनुष्य के मस्तिष्क में विचार रहते हैं। वे सदा प्रकाश में आने का प्रयत्न करते रहते हैं। एक से विचार एक दूसरे के साथ मिल कर बलवान बन जाते हैं। यही कारण है कि मस्तिष्क किसी भी एकदम नए विचार को सुगमता से लेने को तत्पर नहीं रहता जब तक कि उसके मस्तिष्क में उपस्थित विचारों अथवा पूर्व ज्ञान से सम्बन्ध न जोड़ दिया जाय। आज की शिक्षा का यह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। हरबार्ट के पंच सौपान में भी तैयारी इसी से सम्बन्ध रखती है। जिस ज्ञान को हम देना चाहते हैं उसी से सम्बन्धित पूर्ववर्ती ज्ञान को जागृत करने की आवश्यकता है जिससे मस्तिष्क में उपस्थित ज्ञान की शृङ्खला में नए ज्ञान की कड़ियाँ भी जुड़ जायँ। प्रस्तावना में सम्बन्धित प्रश्नों को पूछकर उद्देश्य कथन की ओर ले जाने का तात्पर्य यह ही है कि मस्तिष्क में उपस्थित

मिलते-जुलते विचारों को नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार कर देना।

जहाँ शिक्षक अपने प्रश्नों द्वारा अथवा अपने प्रयत्न से विद्यार्थियों के पूर्ववर्त्ती ज्ञान को जागृत कर नवीन ज्ञान की प्राप्ति की ओर उन्मुख करता है वहाँ बुनियादी शिक्षा में विद्यार्थी स्वयं आवश्यकताओं का अनुभव कर एक ज्ञान से दूसरे की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। एक क्रिया उसके आगे की क्रिया के संपादन में पूर्व ज्ञान का ही काम करती है। जैसा पहिले बताया गया है दस्तकारी के काम में अनेक विषयों का सम्बन्ध एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। एक विषय की आवश्यकता दूसरे विषय की पूर्ति मे होती है। विज्ञान मे क्या गणित नहीं है? इतिहास में क्या भाषा नहीं है? भूगोल में कृषि या कृषि मे क्या भूगोल नहीं है? कृषि में क्या विज्ञान नहीं है? अत मूलोद्योग की छोटी से बड़ी प्रक्रियाओं तक एक विषय का सम्बन्ध दूसरे विषय से जोड़ते हुए स्वभाविक रूप में पूर्व की क्रियाऐं पूर्व ज्ञान बनती जाती है और नए ज्ञान को प्राप्त कर ज्ञान का परिपाक करती जाती है।

(३) सरल से कठिन की ओर—

सरल और कठिन का निर्णय बालकों की अवस्था, रुचि और योग्यता ही के अनुसार होना चाहिए। बालक एक विषय के साधारण ज्ञान को जानते हैं और यद्यपि उसके आगे का भाग उससे ही सम्बन्धित है तो भी कभी-कभी यह कठिन हो जाता है कि उसके यथार्थ अर्थ को वे पा सकें। ऐसी अवस्था में उनके ज्ञान के विस्तार की प्रतीक्षा करना पड़ता है। साधारण अनुभव से यह पता चलाना कठिन होता है कि अमुक वस्तु विद्यार्थियों की दृष्टि से कठिन है और अमुक सरल है। अच्छा तो यही है कि उठाने वाला ही वजन का अनुभव करे।

छोटी अवस्था के विद्यार्थी पत्थर, काँच के टुकड़े आदि संग्रह करते है यदि शिक्षक अपनी दृष्टि से उनको व्यर्थ समझ कर फेंकने

यदि अनुभव के आधार पर बनाया जाय तो वे अधिक स्पष्ट और सरल ग्राह्य होते हैं। आज की शिक्षा को अनुभव से शून्य और केवल पुस्तकीय ज्ञान पर ही अवलम्बित पाकर नवीन शिक्षा पद्धतियों का जन्म हुआ है। बुनियादी शिक्षा का मूल मंत्र ही "करो और सीखो' है। उसकी आधार शिला ही अनुभव है।

(७) पूर्ण से अपूर्ण की ओर—

मनोविज्ञान के अनुसार बालक का मस्तिष्क संपूर्ण वस्तु का अनुभव शीघ्र करता है। बालक से सामने एक वस्तु लाई जाय। थोड़े समय के पश्चात उसको दूसरी वस्तुओं के साथ रख कर बालक द्वारा पहचानवाने का प्रयत्न किया जाय। वह पहिचान लेगा किन्तु यदि उस वस्तु का वर्णन कराया जाय तो वह नहीं कर सकेगा। इसका मूल कारण ऊपर दिया हुआ सिद्धान्त ही है। इसलिये बालकों को पहिले पूरी चीजें ही दिखाई जांय। धीरे-धीरे उनकी बारीकियों की तरफ ध्यान दिलाया जाय। पहिले पूरा पौदा फिर पौदे के भिन्न-भिन्न भागों का अध्ययन होना चाहिये। तकली व चरखा को काम में लाते हुए उसके भिन्न-भिन्न भागों का कार्य व उनसे सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन होना चाहिये। एक छोटे कक्षा में एक विषय की मोटी रूप रेखा का ज्ञान हो गया है अब दूसरे कक्षा में उसी विषय के खण्डों को विस्तृत वर्णन के साथ अध्ययन करेंगे।

(८) मनोवैज्ञानिक क्रम से शास्त्रीय क्रम—

बालकों की अवस्था, रुचि और योग्यता के अनुसार ही शिक्षण का क्रम उपयुक्त होगा। बालक किस वस्तु को सुगमता से किस समय ग्रहण कर लेंगे यह स्वाभाविक या मनोवैज्ञानिक क्रम है। इस प्रकार जब ज्ञान प्राप्त हो जाय तब उसको व्यवस्थित करके उसे शास्त्रीय अथवा नियमित ढंग में रखा जा सकता है। प्रायः देखा गया है कि पुस्तकों का क्रम दूसरा और पुस्तकों को पढ़ाने का क्रम दूसरा होता है। कारण यही है कि पुस्तकों का क्रम शास्त्रीय नियमों के

आधार पर होता है, और शिक्षा की सुगमता मनोवैज्ञानिक क्रम के द्वारा होती है। उदाहरणार्थ भूगोल ही ले लीजिये। बालकों की रुचि परिभाषाओं को याद करने में नहीं होती है क्योंकि वह उनकी दृष्टि से नीरस है। उनकी स्वाभाविक रुचि पर्यटन की है। उनको अपने ग्राम की बहुत बातों का अनुभव है उस ज्ञान को शास्त्रीय ज्ञान का सहायक बनाया जा सकता है।

पाठ पढ़ाते समय विषय प्रवेश में इसीलिये इस नियम की ओर ध्यान रखा जाता है कि पाठ के खण्ड मनोवैज्ञानिक ढंग पर किए जांय। अन्त में एक दूसरे का सम्बन्ध जोड़ने पर उनकी व्यवस्था शास्त्रीय ढंग पर कर दी जाय।

(९) विश्लेषण से संयोग की ओर—

इसी को पर्यालोचना से विवेचना की ओर भी कहा जाता है। पाठ को पहिले सरल ग्राह्य भागों में बाटा जाय। एक विचार अथवा एक विचार धारा को एक खण्ड में रखा जाय। एक खण्ड का सम्बन्ध दूसरे खण्ड से जोड़ा जाय। गणित मे अनेक उदाहरणों को लिया जाय या नियम के आधार पर अनेक उदाहरणों के सत्यता की जांच की जाय। यद्यपि उदाहरणों से नियम बनाने की और नियम के आधार पर उदाहरणों के जांच करने की प्रणालियां पृथक पृथक ही हैं इनका विवेचन पृथक रूप से किया जायगा। कई उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनमें विशेषता बनाने वाले शब्दों की ओर ध्यान आकर्षित करना। अथवा विशेषता बताने वाले शब्दों को प्रत्येक उदाहरण मे से चुनना विश्लेषण है। विश्लेषण के आधार पर नियम बनाना परिभाषा बनाना विवेचना है।

(१०) प्राकृतिक नियम का अनुसरण करो—

प्रकृति वादियों का यह नारा है। रूसो इसमें प्रधान है। मनुष्य ने भी प्रकृति में ही रह कर स्वयं के अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया। इसी परिपाटी के अनुसार बालक की शिक्षा की भी इस विचार धारा के लोग सिफारिश करते हैं। इसका तात्पर्य

बालक को उन अनुभवों के लेने देने से नहीं है जिनमें उसके जीवन का भी खतरा है। इसका तात्पर्य तो यह है कि बालक की अवस्थानुसार जिस ओर उसकी स्वभाविक रुचि जावे अथवा जिस अवस्था में बालक के जिस अंग का विकास हो उसी विकास के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करना इस नियम का अर्थ है। बालकों की छोटी अवस्था में उनका शारीरिक विकास प्रधान होता है और किशोर अवस्था में उनमें सहयोग से काम काम करने के भावों का उद्भव होता है उसी अनुसार उनकी शिक्षा की रूप रेखा की भी आवश्यकता होती हैं।

शिक्षकों के लिए यह रूप रेखा मात्र ही है। प्रस्तुत-विषय की शिक्षा सिद्धान्तों के आधार पर विवेचना करने के लिए इनका उल्लेख किया गया है।

३४

रूसो के शिक्षा सिद्धान्त और बुनियादी शिक्षा

रूसो फ्रांस के एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और शिक्षा शास्त्री हो गये हैं। जहाँ एक ओर उन्होंने अपने प्रभावोत्पादक विचारों से राजनीतिक क्षेत्र में मनुष्य के अधिकारों को परिपुष्ट किया वहाँ दूसरी ओर शिक्षा क्षेत्र में भी बालक को प्रधानता देकर शिक्षा क्षेत्र में एक क्रान्ति ला दी। शिक्षा संसार में यह युग बच्चों की प्रधानता का युग कहलाने लगा। सब से पहिले शिक्षक, शिक्षा और शिक्षार्थी से बालक को प्रधानता देने वाला व्यक्ति रूसो ही है। वह बालक की अपनी ही विशेषताओं में विश्वास रखता है और उसे मनुष्य का लघु रूप नहीं समझता है। उसके मतानुसार बालक की प्रकृति उसके पाठ्यक्रम और शिक्षण कला से अधिक महत्व की वस्तु है।

बालक के शिक्षण के सम्बन्ध में रूसो का कथन है कि बच्चे के कहने सोचने और अनुभव करने की एक अपनी ही रीति होती है मनुष्य को अपने ही दृष्टिकोण से अपनी रुचि उस पर लाद देना एक बड़ी विवेकहीनता है। प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार बच्चों को बच्चों के समान समझना चाहिये न कि बड़ों के समान।

बच्चे पहिले बेचैन होकर क्रियाशील होते हैं फिर उनकी उत्सुकता या जिज्ञासा बढ़ती है। प्रकृति की ओर से बच्चों के लिये यह सप्रयोजन योजना है। इसी योजना के द्वारा उनका विकास होता है। मस्तिष्क का विकास इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा होता है। अतः

उनके शिक्षण में क्रिया का समावेश करके उनकी अभिरुचि उसकी और उत्पन्न करो। रुचि के अनुसार उनकी कार्य में स्वयं प्रवृत्ति होने दो। रुचि उत्पन्न होने पर सीखने का तरीका परिलक्षित कराया जाय जिसके द्वारा अन्वेषण और अनुसन्धान करके वह ज्ञान की स्वयं खोज करें। इस प्रकार की खोज में बालक तर्क वितर्क के द्वारा अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना सीखेंगे।

उसका कहना है कि बच्चों को बन्द कमरों में बैठाना अप्राकृतिक है। बच्चों को किताबों में लगाए रहने की अपेक्षा किसी उपयोगी दस्तकारी में लगाना अच्छा है। हाथों की क्रिया द्वारा उसका मस्तिष्क सीखेगा। लोग सोचते हैं कि-वह केवल एक मजदूर होगा किन्तु सोच समझ कर काम करते-करते वह एक अच्छा विचारक और दार्शनिक भी बन सकेगा। उसकी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के बीच सम्बन्ध होकर उसका सन्तुलित विकास होगा। कर्म और ज्ञान के सुमेल से वह एक सम्पूर्ण मनुष्य होगा।

उसकी शारीरिक और मानसिक योग्यता में अनुपात रहकर सन्तुलन रहेगा। जैसे शरीर अधिक बोझा नहीं उठा सकता उसी प्रकार मस्तिष्क भी अधिकभार वहन नहीं कर सकता है। इसलिए यदि बच्चे की स्मरणशक्ति को अधिक लाद दिया गया तो समय पड़ने पर उसके संचित ज्ञान का उचित प्रदर्शन न हो सकेगा।

उसके कथनानुसार शिक्षा में प्रत्यक्ष ज्ञान सारभूत है। पेस्टालॉजी का 'वस्तु के सहारे' पढ़ाने का सिद्धान्त भी इसी पर निर्भर है। बिना समझे बूझे शब्दों को रटाना हानिकर है। इससे बच्चे की बुद्धि कुन्द पड़ जाती है। उसकी रुचि और जिज्ञासा भी कुण्ठित हो जाती हैं। पेस्टालॉजी और हरबार्ट दोनों ने ही इस रटने की पद्धति की निन्दा की है।

शिक्षा उसके प्रकृतिवाद के अनुसार केवल भावी जीवन की ही तैयारी नहीं है वह तो स्वयं ही जीवन है। ड्यूई भी इसी सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। अतः बालक को अपने स्वभाविक कार्य के फल से

ही सीखना चाहिये। उसकी शिक्षा योजना उसकी स्वभाविक रुचि और आवश्यकता के ही अनुकूल होना चाहिये। बालक समय-समय पर पढ़ता रहता है। तदनुसार उसकी रुचियों में परिवर्तन आता रहता है। उसी अनुसार प्रत्येक अवस्था के लिये उचित प्रबन्ध होना चाहिये। पेस्टालॉजी, फ्रोबेल तथा हरबार्ट भी इससे सहमत हैं। बालक अपनी स्वभाविक क्रियाओं द्वारा अपने को व्यक्त करना चाहता है। अत. बातचीत, लिखने, चित्र खींचने, संगीत तथा खेलने मे उनका उपयोग करना चाहिये। आज के शिक्षा शास्त्री ड्यूई भी इसी के पक्षपाती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यवसाय सीखना चाहिये। ड्यूई भी इसको मानते हैं। उद्योग के सहारे सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहिये। बेसडो, पेस्टालॉजी और फ्रोबेल ने भी इस ओर संकेत किया है। उद्योग की क्रियाओं द्वारा बालकों मे तर्क शक्ति की जाग्रति होगी उसका उपयोग वह व्यावहारिक विज्ञान की छोटी-छोटी समस्याओं के अन्वेषण करने मे कर सकेंगे। ड्यूई इसके सर्वथा समर्थक हैं।

स्वास्थ्य के लिये शारीरिक परिश्रम आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा मे उद्योग के सहारे सउद्देश्य परिश्रम ही इसका साधन माना गया है।

धार्मिक शिक्षा के लिये यह समझना आवश्यक है कि बच्चे धर्म का अध्यात्मिक पक्ष नहीं समझते हैं। उन्हें उपदेश अच्छे नहीं लगते। उनके सामने उदाहरण रखना चाहिये।

भाषा व व्यवहार बात चीत द्वारा पढ़ाना चाहिये और भूगोल का आरम्भ भी निकट के वातावरण से करना चाहिये।

बुनियादी शिक्षा भी इसी प्रकार केवल पुस्तकी ज्ञान पर ही जोर न देकर प्रत्यक्ष अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान पर अवलम्बित है। 'शिक्षा का माध्यम मूल उद्योग बनाकर उसकी आवश्यकतानुसार अन्य विषयों की शिक्षा का आधार उसको बनाकर शिक्षा में स्व-

भाविक क्रम और उपयोगिता लाई गई है। सामाजिक जीवन को शिक्षा का साधन बनाया गया है। 'जीवन की क्रियाओं द्वारा ही जीवन की शिक्षा' बुनियादी शिक्षा का आधार है। स्वानुभूति के लिये 'करो और सीखो' यह मूल मन्त्र है। अतः रूसो द्वारा प्रतिपादित सर्व मान्य सिद्धान्तों की झलक बुनियादी शिक्षा में पाई जाती है।

इसी प्रकार अन्य शिक्षा विशेषज्ञों के सिद्धान्तों की तराजू पर इस नवीन शिक्षा पद्धति को तोला जायगा। हमें विश्वास है कि बापू के मस्तिष्क की यह देन तोल में कहीं भी कम न बैठेगी।

३५

पेस्टालॉजी की शिक्षा पद्धति को देन

इस शिक्षा शास्त्री के मतानुशार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की सभी स्वभाविक शक्तियों का अनुरूप विकास है। शिक्षा में व्यवहारिकता, नैतिकता और धार्मिकता का समावेश होना चाहिये। शिक्षा ही के द्वारा धार्मिक कुरीतियाँ दूर की जा सकती हैं। शिक्षा का आयोजन बालक के स्वभाव, इच्छा तथा शक्ति के अनुसार मनो-वैज्ञानिक ढंग पर होना चाहिये।

उसके अनुसार इन्द्रियजनित ज्ञान, निरीक्षण, तथा स्वानुभूति शिक्षा का आधार है। उसका कहना है कि कार्य शीलता के द्वारा ही विकास होता है। इसके लिये बच्चों की उत्तरोत्तर जिज्ञासा बढ़ती जाती है। अतः भौतिक पदार्थों द्वारा ही बच्चों को शिक्षा दी जाय। शब्दों और स्मृति को घसीटना उपयुक्त नहीं। विषय के सूक्ष्मतम विश्लेषण के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा बहुत ही सरल बनाई जा सकती है। केवल रटने की शक्ति पर जोर देना अमनोवैज्ञानिक है। प्रकृति मानवता की सारी शक्तियों को काम में लेकर विकसित करती है। अतः शिक्षण का ध्येय सारे व्यक्तित्व का विकास करना है।

बालकों की छोटी अवस्था में भी उनमें पर्याप्त शक्ति और

अनुभव प्राकृतिक देन के रूप में रहते हैं और वे प्रकृति के पूर्ण आनन्द का अनुभव करते हैं और उनका स्वाभाविक विकास होता है। पाठशालायें उनको उनकी चहार दीवारी के बीच वन्द करके उनको इस प्राकृतिक आनन्द से वंचित कर देती हैं। उनको शिक्षा के कृत्रिम वन्धन में डालकर उनके स्वभाविक विकास व स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं और केवल शाब्दिक और पुस्तकी शिक्षा में ही उनकी वास्तविक शिक्षा का सन्तोष मान वैठते हैं। वुनियादी शिक्षा में प्रकृति के अध्ययन को स्थान देकर पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

कृषि और वागवानी प्रकृति से घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित करने के साधन हैं। प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूप से अध्ययन करने का अवसर मिलता है और प्रकृति विज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रकृति की कला, सुन्दरता, देन और उपकार का वोध होता है। इन प्रकृति की वस्तुओं के पर्यवेक्षण द्वारा उनके हृदय के कोमल भाव जागृत होकर उनमें से वर्वरता निकलता मानवता प्रतिष्ठित होती है। पाठशाला की शैक्षिणक यात्राओं का आयोजन भी प्रकृति अद्‌भुत छटा एवं सुन्दरता के दर्शन का अवसर देता है। इन प्रवृत्तियों का आयोजन वुनियादी पाठशालाओं में होना ही चाहिये।

वुनियादी शिक्षा में प्रकृति और उद्योग शिक्षण के केन्द्रों में से ही है। दस्तकारी के लिये कच्चा सामान प्रकृति से ही प्राप्त होता है। उनकी प्राप्ति में प्रकृति के अध्ययन का अच्छा अवसर मिलता है। उद्योग को उचित स्थान देने से कार्य शीलता की भावना को पुष्ट किया जाता है। केवल पुस्तकी ज्ञान से उनके मस्तिष्क को नहीं लादा जाता है जो मस्तिष्क के विकास के स्थान पर उसे कुंठित करे। क्रिया शीलता शरीर को वलवान, चित्त को चैतन्य और चरित्र को पवित्र रखती है।

उसने स्कूल को 'प्यार का घर' माना है। शिक्षक और शिष्य के बीच प्यार और सहानुभूति पर जोर दिया है। इन दोनों के सम्बन्धों के बीच सोचने वाला यह प्रथम पुरुष था। उसके अनुसार शिक्षक को बालक के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिये। इसीलिये बुनियादी शिक्षा में भी पाठशाला और घर के बीच एक घनिष्ट सम्बन्ध के स्थापित किये जाने पर जोर दिया है। पाठशाला में भी शिक्षक और विद्यार्थी के बीच एक प्रेम और सहानुभूति के सम्बन्ध की आकांक्षा की गई है।

विषयों की पाठन पद्धति के भी सम्बन्ध में सोचने वाला और पदार्थ पाठ आदि का एक नया विचार देना यह प्रथम ही विचारक था। वह कहता था कि गणित की शिक्षा प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता से दी जाय। इसी के आधार पर कई सहायक सामग्रियों का निर्माण हुआ। बुनियादी शिक्षा में मूलोद्योग की क्रिया में इन हिसाब किताब की क्रियाओं का स्वाभाविक ही समावेश है। भूगोल का प्राकृतिक अध्ययन की शिक्षा भी वातावरण के प्राकृतिक दृश्यों की सहायता से देना चाहिये। कृषि बागवानी और पर्यटन इस शिक्षा को काफी अवसर देते हैं। ज्यामिति के आकारों की शिक्षा भी वह श्याम पट्ट पर बने हुये बड़े आकारों से देना चाहता था केवल परिभाषाओं से नहीं। बुनियादी शिक्षा में इसको और भी अधिक स्वभाविकता दी गई है। कृषि और बागवानी के काम में क्यारियां बनाते समय, लकड़ी के काम में भिन्न-भिन्न आकृतियों का अनुभव करते समय और इसी प्रकार गत्ते आदि के काम इसके ज्ञान का भण्डार हैं। भाषा का व्यवहारिक ज्ञान भी वह बालकों को अनुभव के वर्णन द्वारा दिये जाने का पक्षपाती था। बुनियादी शिक्षा में भी अपने काम की नैमित्तिक डायरियों रखना सभा में भाव प्रकाशन करना कार्य की रिपोर्ट लिखना इसी उद्देश्य के साधक हैं। नैतिक तथा भावना विकास के लिये वह संगीत की शिक्षा आवश्यक

समझता है। बुनियादी शिक्षा की पाठ्य योजना में भी इसको स्थान दिया गया है।

बुनियादी तालीम पेस्टालॉजी के शिक्षा सिद्धान्तों के भी अनुकूल है। शिक्षा की इस प्रणाली में भिन्न-भिन्न शिक्षा विचारकों के मत की पुष्टि पाई जाती है अतः वह शिक्षा सिद्धान्तों के अनुकूल है।

३६

फ्रावेल की पद्धति और बुनियादी तालीम

फ्रावेल ने बच्चों को पढ़ाने की नई पद्धति को जन्म दिया जिसको किंडर गार्टेन पद्धति कहते हैं। उसने भी शिक्षा के सिद्धान्तों का मनो विश्लेषण करते हुये बच्चों की क्रिया शीलता और इस ओर की प्रवृतियों पर बड़ा ही खोज पूर्ण विचार किया है। इसने निष्कर्ष निकाला है कि शिक्षा इन्द्रिय ज्ञान, रचनात्मक कार्य और प्रकृति निरीक्षण द्वारा ही दी जाना चाहिये। अधो लिखित फ्रावेल के शिक्षा सिद्धान्तों के सार हैं जिनको आधुनिक शिक्षा शास्त्रीयों ने भी मान दिया है। इनका अध्ययन बतायगा कि बुनियादी तालीम की नई पद्धति ने कहां तक इनका उपयोग किया है।

फ्रावेल के मतानसार शिक्षा भावी जीवन के लिये तैयारी नहीं है। वरन् उसका तात्पर्य वातावरण के सामूहिक जीवन में भाग लेना है। इसीलिये 'स्कूल' को समाज का एक छोटा रूप ही माना गया है।

उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति, मानव जाति और ईश्वर का ज्ञान देकर शरीर और आत्मा का वास्तविक बोध कराकर उसे बंधन से मुक्त करना है। प्रकृति और मानव जीवन में साम्य है अतः मानव के अध्ययन के लिये प्रकृति का निरीक्षण और अध्ययन उसने साधन माना है। विकास को भी वह सार्वलौकिक नियमानुसार ही मानता है। उसके विचार से बच्चे और पौदे के जीवन में समानता

है इसीलिए उसने अपनी पद्धति में उसको 'बच्चों का बाग' ही कहा है जहां बच्चे स्वयं अपनी क्रिया शीलता से बढ़ते हैं और शिक्षक एक माली का ही काम करता है। वह केवल एक निरीक्षक है। बच्चों की प्रकृति के अनुसार स्वयं वृद्धि और विकास में माली की तरह प्रेम और सहानुभूत पूर्ण सहायता देना चाहिये। बच्चे की शिक्षा में अध्यापक की रुचि को स्थान नहीं है। स्वयं की 'क्रिया शीलता' ही उसका सबसे बड़ा अध्यापक है। रुचि के आविर्भाव के लिए बच्चे के स्वभाविक कार्य में योग देना चाहिये।

खेल बच्चे की स्वभाविक क्रिया है। अतः वह उसकी शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है। इसी प्रकार गाना, संकेत करना, बनाना और बोलना बच्चे का सरल स्वभाव है। अतः उसकी शिक्षा में इनका समावेश है। क्रिया शीलता को वह शिक्षा का ही रूप मानता है। मस्तिष्क 'क्रिया शीलता' ही है, जानना, अनुभव करना और संकल्प करना इसका प्रधान कार्य है। अतः क्रिया शीलता और अभ्यास से ही विकास संभव है। इस क्रिया शीलता का बच्चे के सामाजिक तथा नैतिक विकास में उपयोग करना चाहिये।

क्रिया शीलता के अन्तर्गत उसने सृजनात्मक और उत्पादक कामों तथा उद्योगों की प्रधानता को इसलिए प्रधानता दी है कि इनके द्वारा बच्चे रूप रहित चीजों को रूप देते हैं, अमूर्ति को मूर्ति में परिवर्तित करते हैं, सूक्ष्म विचार को भौतिक ढाँचा देते हैं, आन्तरिक विचारों को बाह्य आकार उपस्थित करते हैं और अदृष्ट को दृष्ट बनाते हैं। काम के द्वारा बच्चे अलौकिक और नैसर्गिक अध्यवसाय और उद्यम शीलता प्राप्त करते हैं।

उसका कहना है कि ईश्वर सब जगह व्याप्त है और मनुष्य उस निर्माण कर्ता का लघुरूप है। वह उसका प्रतिबिम्ब है। अतः मनुष्य का रचनात्मक कार्य इसी अलक्ष्य शक्ति का द्योतक है। सृजनात्मक कार्य में विचारोत्पादक भाव निहित होते हैं। यह ज्ञानार्जन, भाव-विकास और विचारोत्पादन के साधन हैं। इनकी वृद्धि

स्वयं ही बच्चों में अज्ञात रूप से होती रहती है। अतः बच्चों की मुक्त काम करने की प्रवृत्ति का शिक्षा में उपयोग किया जाना चाहिये।

यद्यपि मोटे प्रकार से देखने से यह प्रतीत होगा कि फ्राबेल की किंडर गार्टेन की पद्धति और गांधी जी की 'बुनियादी शिक्षा' में कोई सैद्धान्तिक भिन्नता नहीं है किन्तु तो भी गांधी जी के विचारों की मौलिकता तथा विशेषता ही भिन्न है। किंडर गार्टेन पद्धति से बच्चे खेलों की चीजों का सृजन अवश्य करते हैं किन्तु यह सप्रयोजन नहीं होते। बुनियादी तालीम की क्रिया शीलता की पद्धति में यही मौलिक भेद है कि इसमें प्रयोजनात्मक कार्यों को ही स्थान दिया गया है। बच्चे स्वयं अपने काम की चीजों को अपने हाथ से बनाते हैं और उनके अन्तिम रूप को देखकर अपनी स्वयं की कृति पर प्रसन्न और सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार के उद्देश्य कार्य करते रहने से उनकी धारणा उपयोगी चीजों के निर्माण करने की हो जाती है और वे काम बच्चों की सृजनात्मक शक्ति के विकास का पूर्ण साधन बन जाते हैं

३७

मॉन्तेसरी के विचार

छोटे बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में इस नवीन पद्धति को जन्म देनें वाली डा० मॉन्तेसरी का जन्म इटली में हुआ। उन्होंने अपना प्रयोग मन्द मस्तिष्क वाले बालकों के शिक्षण से आरम्भ किया और फिर उसी पद्धति को साधारण बालकों के विकास के लिए प्रयोग में लाईं।

इनके विचारों के अनुसार अध्यापक को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इसी के आधार पर वह बालकों की प्रवृत्तियों को समझ सकता है। पेस्टालॉजी और फ्रॉवेल की भाँति उसने भी अध्यापक को निरीक्षक का ही पद दिया है। उसे उपदेश नहीं देना है। उसे सहानुभूति पूर्वक बालकों की प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा का आयोजन करना है। मॉन्तेसरी प्रणाली किण्डरगार्टेन का ही परिवर्धित रूप है। मान्तेसरी ने उसे अपने मनो वैज्ञानिक ज्ञान से उपयोगी और परिष्कृत बना दिया है। साधारण लोगों को फ्रावेल के दार्शनिक सिद्धान्त और उसके 'उपहारों' की सांकेतिक भाषा समझना कठिन है। मान्तेसरी बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं उपस्थित करना चाहती हैं। वह बच्चों को स्वभाविक वातावरण में रखकर मानसिक शक्तियों का विकास चाहती हैं। बच्चे अपने स्वभाव के अनुसार खेल की चीजों से खेलने को लाला-

यत होते हैं और खेल ही खेल में अध्यापक की सहायता से आव-श्यक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

इस पद्धति के तीन विशेष अंग हैं—(१) रग पट्ठों का विकास (२) ज्ञानेन्द्रियो का शिक्षण (३) स्वतन्त्रता। शारीरिक विकास के लिये कुछ शारीरिक व्यायाम निश्चित किये गये हैं, ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के लिए उसने उपदेशक वस्तु का निर्माण किया है जो उसकी स्वतः की मौलिक सूझ है और उसकी पद्धति मे स्वतन्त्रता की तो प्रधानता ही है। उन्हीं के शब्दों में वह बच्चे को रगपट्ठों के शिक्षण से ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण की ओर और इनके द्वारा वस्तुओं के ज्ञान से अप्रत्यक्ष, भावनात्मक विषयों की ओर और उनके द्वारा नैतिकता की ओर ले जाना चाहती है। बुद्धि को उत्तेजित न करते हुए वह ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करना चाहती है। उनके अनुसार 'स्वशिक्षा' सब से बड़ा शिक्षा सिद्धान्त है और 'स्वानुभव' द्वारा ही बुद्धि का विकास सब से बड़ा साधन है।

मान्तेसरी अपनी प्रणाली में 'मनोवैज्ञानिक ज्ञान को विशेष महत्व देती हैं। जिस समय बालक को जिस विषय को सीखने की इच्छा हो वही उसके लिए 'मनोवैज्ञानिक क्षण' है। सफल शिक्षक इस अवसर की ताक में रहते हैं। इस तरह बालक अपनी इच्छा पूर्ति ही सब से बड़ा पुरस्कार समझते हैं और न उस योजना में उनको अस्वभाविक वातावरण में बांध कर शान्त रखने के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। गुण की प्राप्ति ही उनके लिए सब से बड़ा पुरस्कार हो जाता है। इसी प्रकार बुनियादी शिक्षा पद्धति में भी बालकों के वातावरण के अनुसार ही मूलोद्योग का चुनाव होता है। इस प्रकार के चुने हुए मूलोद्योग में उनकी प्रवृत्ति होना स्वभाविक ही है। बालक उसमें आवश्यकतानुसार अधिक से अधिक जानने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षक को तत्सम्बन्धित ज्ञान देने के लिये तत्पर रहना चाहिये। इन्हीं अवसरों का उचित उप-योग बुनियादी शिक्षा की समवाय पद्धति का आधार है।

मान्तेसरी के अनुसार एक बालक दूसरे बालक से भिन्न है। उसकी स्वयं की कुछ विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं का ही उपयोग कर बालक को उठाया जा सकता है। इसीलिए इस पद्धति में बालक के व्यक्तित्व और बालक की व्यक्तिगत विशेषता की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया है। फ्रावेल की भाँति न तो इनकी पद्धति में कक्षा में शिक्षक प्रधान है और न बालकों को सामूहिक कार्य करने की योजना है। इसीलिए लोगों की शंका है कि सामाजिक रूप से कार्य करने की योजना न होने से बालकों में सामूहिक कार्य की भावना, प्रेम और सहानुभूति के सामाजिक नियमों का उदय कैसे होगा। सामाजिक कार्य के बालकपन ही से संस्कार कैसे पड़ेंगे। किन्तु उनकी पद्धति में तो 'बालक' ही शिक्षण का केन्द्र है उसी की विशेषताओं को जागृत करना है। किन्तु बुनियादी शिक्षा में बालक की व्यक्तिगत उन्नति का ध्यान रखते हुए भी यह आवश्यक समझा गया है कि वह एक बालकों के संगठित समाज में ही काम करे और इस प्रकार उसकी सामाजिक भावनाओं का शिक्षण हो।

उनकी पद्धति में दृढ़ समय सारिणि की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये उनका कहना है कि पाठ्य वस्तु का निर्धारण पहिले से न हो। आवश्यकतानुसार उसका निर्माण व परिवर्तन आपेक्षित है। यह तो ठीक भी है। बंधे हुए काम में कृत्रिमता भी आ जाती है और फिर मनोवैज्ञानिक क्षण का कोई तात्पर्य भी नहीं होता है। बुनियादी शिक्षा में भी इसी प्रकार जैसी-जैसी आवश्यकता उचित अवसरों द्वारा प्राप्त होती जाय उसी के अनुसार शिक्षण योजना द्वारा स्वभाविक क्रम रखा जाता है। इसमें बालकों को स्वयं के निरीक्षण और प्रयोग द्वारा अपने-अपने अनुभव के आधार पर स्वयं की शिक्षा का साधन उपलब्ध होता है और शिक्षा में स्वतन्त्रता का वातावरण बनता है।

बालकों के स्वतन्त्र वातावरण को भी इसमें प्रधानता दी गई है।

शिक्षक को केवल निरीक्षक और बालकों की आवश्यकता पड़ने पर उसकी पूर्ति मात्र के लिये मार्ग दर्शक का रूप है। पाठशाला भी बालक की रुचि के अनुसार बनाया गया वातावरण है। यहाँ उनकी क्रियाशीलता को पर्याप्त साधन है। बालक क्रियाओं पर अधिकार करते हैं वे स्वानुभव से ज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञान प्राप्त करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। यह गुण प्राप्ति ही उनका पुरस्कार हो जाता है। अनुशासन की समस्या भी नहीं उठती है।

शिक्षण पद्धति में (१) व्यवहारिक जीवन के अभ्यास के अन्तर्गत शरीर की व वस्त्रों की सफाई, कमरे की व चीजों की व्यवस्था द्वारा आत्म निर्भरता व अध्यवसायी बनाना सिखाने का उद्देश्य है।

(२) उपदेशक वस्तुओं से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा जिसमें इन्द्रियों की पृथक-पृथक शिक्षा दी जाती है 'श्रवण', आकार, रूप, तोल, स्पर्श, ताप, रंग प्रधान हैं। सिखाने में पाठ के तीन भाग किये गये हैं (१) नाम का परिचय (२) नाम से वस्तु की पहचान (३) वस्तु से नाम को पढ़ना।

३८

जान ड्यूई की विचार धारा

आधुनिक युग में शिक्षा के क्षेत्र में अपने ही प्रकार के मौलिक विचारों को प्रस्तुत कर जो एक नवीन क्रान्ति लाए हैं वे हैं अमेरिका के शिक्षा शास्त्री जान ड्यूई। उनकी शिक्षा प्रणाली उपयोगितावाद के सिद्धान्तों पर निर्मित है। यही कारण है कि बुनियादी तालीम को पूरी तरह से उससे मिलती-जुलती मानते हैं किन्तु उसमें क्या मौलिक अन्तर है इसका विचार उसके विचारों और सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात् करेंगे।

शिक्षा के सुधार में उसने अनेक अधोलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

उसका पहला विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-स्वावलम्बन और स्वाभिमान के लिए विचार पूर्ण काम करना चाहिये। अपनी जीवकोपार्जन के लिए काम रुचिपूर्ण ढंग से सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये। जीवनयापन को आवश्यक कार्य भोजन बनाना, कपड़े बनाना, लकड़ी के और धातु के काम की उसने सिफ़ारिश की है। इन विचारों पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि वह शिक्षा की प्रणाली में उपयोगी काम को स्थान देना चाहता है। उसका विश्वास है कि आत्म शिक्षण और आत्म निर्भरता ही सच्चा शिक्षण है। इसमें बच्चों को अपनी सृजनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति को

समुचित क्षेत्र मिलता है और इनको इनके समग्र विकास का अवसर प्राप्त होता है।

संयोजन प्रणाली या प्रॉजेक्ट मैथड उनके शिक्षा सिद्धान्त का ही फल है। इसमें अनेक प्रयोजनात्मक और सामाजिक कार्यों द्वारा शिक्षा दिये जाने की योजना है। इस योजना का सविस्तार वर्णन उसकी आलोचना और उसकी बुनियादी शिक्षा से तुलना पृथक रूप से करेंगे।

उसका कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक गुणों से परिपूर्ण 'चरित्र विकास' अथवा आत्म ज्ञान है। शिक्षा विकास का ही दूसरा रूप है। शिक्षा का अभिप्राय विशेषताओं का पता लगा कर उनके विकास का समुचित प्रबन्ध करना ही है। इस तरह की शिक्षा के लिए एक ऐसे वातावरण का आयोजन करना चाहिये जिससे व्यक्ति मानव जाति की सामाजिक जागृति में सफलता पूर्वक भाग ले सके। अतः शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक के साथ ही साथ सामाजिक भी होना चाहिये। उसका कथन है कि समाज का स्थायित्व व्यक्ति के विकास पर निर्भर है। समाज में व्यक्ति का स्थान केवल उसकी सम्पत्ति और मान पर ही अवलम्बित नहीं है अपितु उसकी स्वभाविक योग्यता के समुचित विकास पर निर्भर है। अतः उसकी इस स्वाभविक योग्यता की खोज की जाकर तदनुसार व्यक्ति की शिक्षा योजना बनाना ही शिक्षा के क्षेत्र में उसको उचित अवसर देना है।

शिक्षा पद्धति पर उसके उपर्युक्त विचारों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि वह शिक्षा को बालक की स्वभाविक रुचियों और क्रियाशीलता पर ही अवलम्बित करना चाहता है। बालकों की स्वयं शिक्षा के लिए स्वानुभूत ही आधार मानता है। उसका विश्वास है कि शिक्षा में क्रिया शीलता ही नैतिक विकास का साधन है। जो 'सत्य' है वह 'उपयोगी' है और जो 'उपयोगी' है वह 'सत्य' है। इसलिये उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में बच्चे स्वयं सत्य

की खोज और अनुभव करते हैं। यही उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने का उचित साधन है। किसी भी विचार की सत्यता उसकी यथार्थता पर अवलम्बित है। इस विचार, विश्वास और कार्य की महत्ता उसके फल के अनुसार ही निश्चित की जाती है। अतः कार्यशीलता और उसका परिणाम ही हमारे ज्ञानार्जन का साधन है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने शिक्षा-वस्तु में हस्तकला सम्बन्धी विषयों को प्रधानता दी है। रचना, औजारों तथा वस्तुओं का प्रयोग, प्रकृति से संपर्क, खेल और वर्णन आदि को उसने क्रिया शीलता ही के अंग माने हैं। उसका पूर्ण विश्वास है कि बुद्धि का विकास अनुभव के पुनर्सङ्गठन से ही होता है। अतः बालक की शिक्षा उसकी स्वभाविक रुचियों और क्रिया शीलता पर ही अवलम्बित होना चाहिये।

शिक्षा में सामाजिक आवश्यकता को भी उसने प्रमुख स्थान दिया है और इसीलिए सामाजिक जागृति में विचारपूर्वक सफलता से भाग लेने की योग्यता प्राप्त करना शिक्षा का अभिप्राय माना है। उसके इन विचारों ने 'स्कूलों' की पूरी काया पलट ही करदी है। 'स्कूलों' के प्रति धारणा और भावना में एक महान् परिवर्तन कर दिया है।

स्कूल को वह वर्तमान जीवन का प्रतिनिधि रूप मानता है। इसीलिए वह समाज का एक लघुरूप ही है। स्कूल का उद्देश्य भावीजीवन की तैयारी मात्र नहीं है, प्रत्युत वह तो स्वयं ही जीवन है जहाँ बालक अपने जीवन और समाज की आवश्यक क्रियाओं और प्रवृत्तियों में भाग लेकर स्वानुभूति से आगे ही स्वभाविक विकास की ओर अग्रसर होता जाता है। पाठशालाओं की कार्य योजना यदि बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल हो तो उनकी नैतिक शिक्षा स्वतः ही होती जायगी। इसी सिद्धान्त पर स्कूल को सामाजिक बुराइयों के दूर करने का साधन माना है। उसका कथन है कि स्कूल जीवन का विकासगृह जीवन के

ही अनुरूप होना चाहिये जिससे वे जीवनोपयोगी ज्ञान प्राप्त कर सकें।

यहाँ यही उल्लेख पर्याप्त होगा कि बुनियादी शिक्षा की योजना में वातावरण के अनुकूल मूलोद्योग को प्रधानता देकर उपर्युक्त सिद्धान्तों को पूर्ण मान्यता प्राप्त है। बालकों की क्रिया शीलता, आत्म निर्भरता और सामाजिक आवश्यकता को उचित स्थान है।

३६

व्यक्ति और समाज

(गांधी जी के विचार)

शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा से है। मनुष्य को व्यक्तित्व समाज ही से प्राप्त है। वह एक सामाजिक प्राणी है। एकांत में वह उन्नति नहीं कर सकता। यदि मनुष्य कभी अस्थायी रूप से समाज का त्याग भी करता है तो उसका त्याग उच्च भावना का, समाज सेवा अथवा समाजोन्नति के उद्देश्य वाला होना चाहिये। महात्मा बुद्ध का परिवार और समाज का परित्याग संसार को मुक्ति का मार्ग खोजने ही को था। मुक्ति प्राप्त करने पर भी उनका आदर्श महान् था कि संसार में जब तक एक भी प्राणी ऐसा रहे जिसे मुक्ति प्राप्त न हुई हो तब तक वह निरन्तर जन्म लेकर समाज की ही सेवा करते रहें। क्या ही उच्च सामाजिक जीवन की भावना है! इसलिये किसी भी प्रकार का वैराग्य अथवा त्याग, जब तक उसका आदर्श ऊंचा न हो, अभिमान और अहंभाव का ही पोषक है; जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्थान के मार्ग में बाधक है। यदि यह नहीं है तो वह भी एक प्रकार का हलका समाज-शोषण ही है।

व्यक्ति समाज का अंग है। समाज से व्यक्ति और व्यक्ति से समाज है। व्यक्ति को अधिकार नहीं कि वह समाज का अंग होकर

अपनी सेवा से उसे वंचित रखे। यही कारण है कि न्याय की दृष्टि से आत्म हत्या भी करना पाप और अपराध माना है। इसलिये यदि कभी समाज से अलग रहने की भावना भी थी तो आत्मोन्नति द्वारा समाज-कल्याण ही के लिये थी।

वास्तविक जीवन में व्यक्ति और समाज को अलग नहीं किया जा सकता। उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक के ऊपर अधिक ज़ोर देना दूसरे का ह्रास करना है। संसार की बहुत कुछ अवनति इसी संतुलन के न होने के कारण हुई है। कभी-कभी-व्यक्ति समाज को हिला देता है और कभी समाज व्यक्ति को कुचल डालता है। इसलिये सबसे अच्छी शिक्षा वही है जिसमें व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओं को न भुलाया जाय और उसका आधार सामाजिक हो। अर्थात् समाज और व्यक्ति की आवश्यकताओं में समन्वय हो। इसलिये इस पद्धति में शिक्षा शास्त्री एक मत हैं कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृतिदत्त देन का अच्छी से अच्छी तरह से अपने लिये तथा अपने समाज के लिए उपयोग करे और प्रकृति के नियमों की खोज कर अपने स्वयं के अनुभव से अपने ज्ञान-भंडार का विस्तार करे और एक प्रगतिशील समाज का प्रगतिशील अंग बने।

आज की शिक्षा का उद्देश्य बहुत संकुचित है और वह आजी-विका मात्र तक ही सीमित है। किन्तु शिक्षा का उद्देश्य जीवन को संपूर्ण बनाना और उसका संतुलित विकास है। इसीलिये मनुष्य को समाज का अंग बने रहने की आवश्यकता है। क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। वह चरित्र एकान्त में नहीं बनाया जा सकता है। प्रत्येक समाज अपनी रचना के आधार पर ही अपनी शिक्षा की रूप-रेखा निर्धारित करता है। हमारा देश समा-नता, बंधुत्व, मातृत्व व न्याय के आधार पर ही समाज की रचना करना चाहता है इसलिये व्यक्ति की शिक्षा में भी इन्हीं तत्वों का समावेश होना चाहिये।

गांधीजी की दृष्टि से व्यक्ति का आधार ईश्वरीय है और इस

भी ईश्वरीय ही है। इसलिए मनुष्य का उद्देश्य केवल भौतिक ही न होते हुए आध्यात्मिक भी होना चाहिये। वह स्वयं ही अपना उद्देश्य है। केवल साधन मात्र की तरह दूसरों के द्वारा काम में नहीं लाया जा सकता। यदि किसी समाज में वह सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति होते हुए नहीं देखता तो उसे क्रांति करने का भी अधिकार है।

समाज चलता रहता है और इस तरह अमर है। यह अमरत्व प्रगति-शीलता में ही है। पीढ़ियों दर-पीढ़ियों, शताब्दियों के बाद शताब्दियों के निरन्तर प्रयत्न से संस्कृति और सभ्यता का विकास होता है। इस विकास की परम्परा में व्यक्ति का समाज के काम में आना कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों समाज उन्नति करता हुआ आगे बढ़ता है त्यों-त्यों भविष्य के समाज के प्राणी सुख और समृद्धि से रह सकेंगे। इसलिये व्यक्ति ने यदि अपने सतत प्रयत्न से समाज को ऊंचा उठाया तो उसके जीवन का उद्देश्य सफल हुआ और प्रगति-शील समाज के अमरत्व में उसने भी अमरता प्राप्त कर ली। इसीलिए महापुरुषों का ध्येय है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन में निरन्तर इस बात का प्रयत्न करता रहे कि वह अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करने के पूर्व समाज को अधिक उन्नत अवस्था में देख सके।

गाँधी जी चाहते थे कि मनुष्य अपना सम्पूर्ण विकास एक आध्यात्मिक समाज में ही करे। न्याय प्रेम और अहिंसा के आधार पर रचे हुए समाज में ही ऐसा होना सम्भव है। इसमें किसी भी प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक शोषण अथवा असमानता की गुंजाइश न हो। इसीलिए बापू समाज के आर्थिक ढाँचे का आधार विकेन्द्रीकरण बनाना चाहते थे। वह ग्रामोद्योगों तथा घरेलू धंधों के पक्षपाती थे। वह चाहते थे कि राष्ट्र को यदि बड़े पैमाने पर इनकी आवश्यकता भी पड़े तो वह राष्ट्र के ही अधिकार में हो जिससे वह व्यक्तिगत लूट-खसोट का ज़रिया न बन सके। इससे पूँजी का भी केन्द्रीकरण न होगा। जिससे समाज

में अत्याचार, अन्याय और असमानता बढ़े। किन्तु उनके विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य परस्पर सहयोग-हीनता से नहीं है। इसीलिये वे छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को परस्पर सहयोग के आधार पर प्रोत्साहन देने के पक्षपाती थे।

गांधीजी परिवार और परिवार के सदाचार में विश्वास रखते थे। किन्तु वह चाहते थे कि परिवार की सम्पत्ति अन्याय अथवा शोषण द्वारा एकत्रित की हुई नहीं होनी चाहिये। उनके अनुसार प्रत्येक को, चाहे वह श्रमजीवी हो अथवा बुद्धिजीवी हो शारीरिक श्रम करना चाहिये चाहे वह अपने स्वतः के लिए हो अथवा समाज के लिए हो। वे मानते थे कि किसी हद तक सत्य और नैतिक जीवन के लिए भौतिक वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है तो भी वह उनको साधनमात्र ही मानते थे। वे एक निश्चित सीमा तक मनुष्य के विकास में सहायक हैं। केवल विषयों की तृप्ति के लिए उनका संग्रह हानिकर है। इस तरह निरन्तर इच्छाओं का तार बंधा ही रहता है जिनकी अपूर्ति में मनुष्य को क्रोध उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य अशान्त हो जाता है और उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट होने से मनुष्य की अधोगति होकर वह नष्ट हो जाता है।

जैसी व्यवस्था वह आर्थिक क्षेत्र में चाहते थे वैसी ही रचना सामाजिक-क्षेत्र में भी चाहते थे। वह वर्ग-रहित तथा जाति-रहित समाज की रचना करना चाहते थे। जो सहकारिता के सिद्धान्त पर बनी हो, जो स्वाश्रयी हो, जिसमें शारीरिक श्रम हेय न समझा जाता हो। हलका से हलका काम भी मनुष्य अपने लिए व समय पड़ने पर दूसरों के लिए कर सके। कोई मनुष्य किसी दूसरे से बल-पूर्वक ऐसा काम नहीं लेगा जो वह अपने लिए अथवा दूसरे के लिए करने से परहेज करता हो। प्रत्येक काम सम्मान योग्य तथा पवित्र है। हरएक ईमानदारी के साथ काम करने वाला न केवल

पारिश्रमक ही पाने का अधिकारी है वरन् सम्मान प्राप्त करना भी उसका अधिकार है।

राजनैतिक क्षेत्र में भी वह नैतिक आधार के पक्षपाती थे। वह साधनों को भी उतना ही महत्त्व देते थे जितना साध्य अथवा सिद्धि को। इसलिये 'येन केन प्रकारेण' वाली नीति की गुँजायश उनकी राजनीति में न थी। उनका विश्वास था कि, देश केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करने मात्र से ही सुखी तथा समृद्धिशाली नहीं हो सकता जब तक उसमें नैतिकता और चरित्रबल न हो। इसीलिये वह कांग्रेस का स्तर बहुत ऊँचा, नैतिक तथा अध्यात्मिक आदर्शों पर रखना चाहते थे। वह समाज के उद्देश्य तथा व्यक्ति के चरित्र की पृथकता में विश्वास न रखकर उनके समन्वय में ही विश्वास रखते थे। क्योंकि व्यक्ति का चरित्र उस समय के समाज का प्रतिबिंब है। वह खादी पर केवल इसलिए जोर नहीं देते थे कि वह कांग्रेस की पोशाक है, साधारण जीवन का चिह्न है या सामान्य जनता के साथ समानता का सूचक है बल्कि इसलिए कि वह ग्रामीणों के लिए अवकाश के सदुपयोग का साधन व स्वावलम्बन का आधार है। यदि यह भावना नहीं है तो खादी का पहनना निरर्थक है और दिखावा मात्र है। ऐसी ही भावना उनकी अस्पृश्यता निवारक और हिन्दू-मुस्लिम-एकता में थी। यदि इसको भी केवल एक राज-नीतिक आवश्यकता की दृष्टि से देखा तो वृथा है। जब तक कि इसके पीछे सामाजिक व नैतिक दृष्टि न हो। वह समाज के उद्देश्य और व्यक्ति के चरित्र का एकीकरण ही चाहते थे।

इन्हीं आदर्शों के आधार पर उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमों की योजना की जिसमें शिक्षा भी एक अंग है। इसके द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह सम्पूर्ण विकसित मानव-समाज की रचना करना चाहते थे।

४०

शिक्षण की अन्य पद्धतियाँ

किंडर गार्टेन के जन्मदाता १९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल थे। जर्मनी की जैसी परिस्थिति उस काल में थी उसके अनुसार शिक्षण-विधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन उस नवीन पद्धति ने किए हैं। इसी के अनुसार अन्य देशों में भी आवश्यकतानुसार नवीन पद्धतियों का आरम्भ हुआ जिनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इसी प्रकार भारत की परिस्थिति और शिक्षा की आवश्यकतानुसार भारतवर्ष के लिए बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा निश्चित की गई है। जिसे शिक्षा में एक अहिंसक क्रान्ति के नाम से कहा जाता है। इस सब पद्धतियों का अध्ययन करके यदि बुनियादी शिक्षा को इन वैज्ञानिक शिक्षा-सिद्धान्तों की तराजू पर तोलेंगे तो हमें स्पष्ट होगा कि इस पद्धति का भी मनोवैज्ञानिक तथा सैद्धान्तिक आधार है।

'किंडर गार्टेन पद्धति'

किंडर गार्टेन पद्धति में हम निम्नलिखित सिद्धान्तों का समावेश पाते हैं:—

(१) स्वयं प्रवृत्ति का विकास।

(२) शिक्षा का स्वतन्त्र वातावरण।

(३) शिक्षा में खेल अथवा खेल-द्वारा शिक्षा।

(४) [illegible]

फ्रोबेल महोदय ने स्वयं प्रवृत्ति का विकास आवश्यक समझा जिसकी सहायता से व्यक्ति परिस्थितियों का सामना कर सकता है और उसमें आत्म निर्भरता आजाती है। वह सुख-दुःख के रहस्य को भली प्रकार समझने लगता है। इस प्रवृत्ति का विकास संकुचित तथा सीमित वातावरण में नहीं हो सकता। तात्पर्य ये कि उसे ये सभी सुविधायें प्राप्त हों जिन्हें उसकी प्रवृत्ति स्वयं चाहती है। ऐसे वातावरण में रुचि का ध्यान रखा जाता है व प्रेम-भाव का प्रसार होता है तथा अनुशासन के नाम पर दण्ड का अभाव रहता है। ऐसे स्वतन्त्र वातावरण में बालक की उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। क्योंकि अपनी स्वतन्त्रता के साथ उसमें यह भावना भी उत्पन्न की जाती है कि वह दूसरे की स्वतन्त्रता का भी ध्यान रखे जिसका अभाव आज के समाज में पाया जाता है। स्वतन्त्र वातावरण में स्वयं प्रवृत्ति का विकास खेल द्वारा ही होता है ऐसे खेलों की योजना होती है जो शिक्षाप्रद हों, चरित्र गठन करें तथा कल्पना-शक्ति को जागृत करें जिससे भविष्य में आने वाली परिस्थितियों के अनुकूल चलने की क्षमता आजाती है। इसके अतिरिक्त खेलों द्वारा सामूहिक भावना की वृद्धि होती है। एक साथ मिलकर खेल आदि जब कोई कार्य होता है तब भाग लेने वालों में परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। एक साथी दूसरे साथियों की भावनाओं का ध्यान रखता है। इससे सामूहिक भावना की वृद्धि होती है और सामाजिक चेतना जाग्रत होने से समाज का विकास होता है। समाज में न्याय की नींव जमती है और समता आती है।

बच्चे के नैसर्गिक विकास की दृष्टि से बालक को पौधों की तरह प्राकृतिक नियमानुसार विकास करते-रहने की योजना है। इसीलिये कक्षा को बच्चों का बाग और शिक्षक को देखभाल करने वाला माली कहा गया है।

मांटसोरी पद्धतिः—

इस पद्धति की रूपरेखा श्रीमती मेरिया मांटसोरी ने इटली में

बनाई थी। किंडर गार्टन की भाँति इसका सम्बन्ध भी छोटे बालकों की शिक्षा से ही है। इस पद्धति के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

(१) बालक के विशेष व्यक्तित्व का विकास।
(२) स्वतन्त्र वातावरण में शिक्षा।
(३) खेल द्वारा शिक्षा।
(४) व्यक्तित्व का पूर्ण विकास।
(५) दैनिक जीवन की कुशलता।

प्रत्येक बालक में सामान्य शक्तियों के अतिरिक्त कुछ विशेष शक्तियाँ भी होती हैं। जब इनका विकास होता है तब व्यक्तित्व में विशेषता उत्पन्न होती है। विशेष व्यक्तित्व के ही कारण कोई वैज्ञानिक होता है और कोई दार्शनिक। इस कारण बालक की विशेष रुचि का पता चला कर उसे उस ओर प्रवृत्त किया जाता है। उनका विश्वास है कि जिस समाज में विशेष व्यक्तित्व के लोगों की अधिकता होती है उस समाज का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा होता है। इसलिए उसकी विशेष शक्ति के विकास का अवसर देकर उसके विशेष व्यक्तित्व को बनाया जाता है। वह मानती हैं कि जातिगत समानता होते हुए भी व्यक्तिगत विभिन्नता भी होती है। इसी व्यक्तिगत विभिन्नता का आधार विशेष व्यक्तित्व का विकास है।

किंडर गार्डन की भाँति इसमें भी स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण किया जाता है जिसमें बालक स्वयं अपनी रुचि के अनुसार अपने विषय का चुनाव करता है और शिक्षक उसके पास एक पथ-प्रदर्शक तथा सहायक के ही रूप में आता है। इस पद्धति में किंडर गार्टन की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है क्योंकि न तो इसमें विषय का नियन्त्रण है और न समय का।

खेल का रूप जो किंडर गार्डन में है वह इस पद्धति में नहीं है इसमें खेल नाम मात्र का होता है और खेल के बहाने बालकों को रुचिकर कार्य करना पड़ता है। रुचिकर कार्य में मनोरंजन, [illegible]

तथा हृदय तीनों का सहयोग होता है और रचनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति खेल के बहाने हो जाती है। इस प्रकार उसका रूप साधारण खेल से भिन्न है।

इस पद्धति में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा आवश्यक समझी जाती है। इसमें एक इन्द्रिय की शिक्षा एक ही बार दी जा सकती है। इस बात पर जोर दिया जाता है कि बालक अपनी त्रुटि जान सके व उन्हें दूर करने का स्वयं प्रयत्न करे। ऐसा करने से बालक में आत्म-निर्भरता, आत्म-विश्वास, आत्म-शक्ति, सहन-शीलता और धैर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

शिक्षा में दैनिक जीवन की कुशलता भी एक अंग है। क्योंकि जैसी रहन-सहन की एक शैली है वैसी ही जीवन की भी एक कला है। इसलिये कमरे की सफ़ाई, नहाना, कपड़े धोना, बर्तन साफ करना अनाज साफ करना, भाजी काटना आदि दैनिक कार्यक्रम के अंग हैं।

इस पद्धति में कुछ दोष भी बताये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं:—

इसमें बालक अकेला ही काम करता है इसलिये उसमें स्वार्थ के भाव जाग्रत होते हैं और एक साथ मिलकर काम करने का अवसर न मिलने से सामूहिक भावना की वृद्धि नहीं होती। वह एक दूसरे से बोल नहीं सकते, चुपचाप बैठना पड़ता है जो उसकी स्वाभाविक प्रकृति के प्रतिकूल है। इसमें स्वतन्त्रता भी नहीं रहती है। इसमें सम्पूर्ण विकास के लिए जो कार्य सिखाये जाते हैं वह बालकों को आयु के अनुकूल नहीं होते। इसमें हरएक ज्ञानेन्द्रिय की शिक्षा अलग-अलग दी जाती है। प्राकृतिक रूप से ज्ञानेन्द्रियों को एक दूसरे के सहयोग से ही काम करना पड़ता है अतः उनकी शिक्षा का भी एक साथ होना ही वैज्ञानिक ढंग है। खेल के सम्बन्ध में लोगों का कहना है कि जहाँ बालक अकेला काम करे और उसकी कल्पना का प्रयोग न हो वह खेल कैसे हो सकता है किन्तु इस सम्बन्ध में

श्रीमती मोन्टसोरी का कथन है कि बालकों की कल्पना को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। किन्तु अन्य विचारकों का कल्पना के विकास में महत्व देते हुए इससे मतभेद है। सबसे बड़ा आरोप जो इस पर है वह यह कि इसमें सामाजिक भावना की वृद्धि नहीं होती जो समाजवादी जनतन्त्र की रचना के प्रतिकूल है। इतना होने पर भी उसमें बहुत सी विशेषताएँ हैं जिनका उपयोग शिक्षण-पद्धति में किया जा सकता है।

डाल्टन पद्धति :—

कुमारी पार्खर्स्ट डाल्टन नामक स्थान (अमेरिका) की निवासिनी ने इस पद्धति को जन्म दिया है। वे मॉटसोरी पद्धति की मूल बातों को स्वीकार करती हैं। यह पद्धति बड़े बालक तथा बालिकाओं के लिये है।

इस पद्धति के मूलतत्व ये हैं :—

(१) कक्षा से अधिक बालक की प्रधानता।
(२) शिक्षण में स्वाध्याय की प्रधानता।
(३) समय से अधिक स्वतन्त्रता की प्रधानता।
(४) शिक्षण में निश्चित कार्य की व्यवस्था।
(५) शिक्षक का पथ-प्रदर्शन।
(६) कक्षा का प्रयोग शाला का रूप।
(७) दैनिक कार्य के आधार पर परीक्षा।

इसके अनुसार व्यक्ति को समाज से अधिक महत्व दिया जाता है और उनका विश्वास है कि बालक के लिये शिक्षा है न कि शिक्षा के लिये बालक। इसमें बालक को अपनी-अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने का अवसर मिलता है। इसमें बालक स्वयं अपना विषय चुन लेते हैं और उसके अध्ययन के लिये स्वाध्याय करते हैं। जितनी देर तक जब रुचि हो वह काम करने में स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक बालक को उसकी योग्यतानुसार काम दे दिया जाता है, जिसमें

शिक्षक को बड़ी सावधानी, चतुराई और योग्यता से काम लेना पड़ता है। इस प्रणाली में कक्षा के हिसाब से शिक्षक नहीं होते बल्कि विषय के अनुसार होते हैं। बालकों की रुचि तथा योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न बालकों को दिया जाता है। जब बालक को कठिनाई उपस्थित होती है तो शिक्षक सहायता देता है और पथ-प्रदर्शन करता है। कक्षा प्रत्येक बालक के लिये अपने दिये हुये कार्य को पूरा करने की प्रयोग-शाला बन जाती है। नैमित्तिक समाप्त किया हुआ काम ही परीक्षा है।

इस पद्धति में बालक अपनी रुचि का विषय चुनकर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करता है और निश्चित कार्य को समाप्त करने की योजना के कारण उसकी प्रगति वास्तविक और ठोस होती है। अपने निश्चित कार्य के समाप्त करने में कार्यक्रम बनाने से उनकी संगठन व व्यवस्था-शक्ति में वृद्धि होती है। मॉटसोरी पद्धति की भाँति इसमें भी अकेले काम करने की प्रवृत्ति के कारण स्वार्थ की भावना आ जाती है और सामाजिक भावना जागृत नहीं होती। विषय वार की योजना के कारण अधिक शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है। इसमें बालक को लिखने का काम अधिक और बोलने का कम करना पड़ता है। इससे बालक को आत्माभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिल पाता है।

प्रोजेक्ट पद्धति :—

कार्य द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त पर आज के सब शिक्षा-शास्त्री एक मत हैं कि बालक अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर शिक्षा प्राप्त कर सके। मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि जो बालक की मूल प्रवृत्तियों के आधार पर प्रदान की जाय। इन मूल प्रवृत्तियों में रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रमुख स्थान है। अतः शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिसमें बालक की इस प्रवृत्ति का विकास हो और वह शिक्षा में स्वाभाविक रुचि रखे। इस पद्धति की रूप-रेखा

अमेरिका में विलियम हेनरी किलपैट्रिक द्वारा बनाई गई। यह पद्धति शिक्षा-शास्त्री पेस्टॉलाजी, फ्रोबेल और डिवी के सिद्धान्तों के अनुकूल है। पारिभाषिक भाषा में प्रोजेक्ट वह समस्या मूलक कार्य है जो अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त होता है। इसके मूल ये आधार हैं:—

(१) समस्या मूलक कार्य द्वारा शिक्षा।
(२) आचरण की शुद्धता।
(३) स्वाभाविक वातावरण मे शिक्षा।
(४) बालक का बौद्धिक विकास।

इस पद्धति में कार्य और व्यवहार की प्रधानता इसलिये है कि जो शिक्षा किसी कार्य के द्वारा दी जाती है वह स्थायी और उपयोगी होती है। काम करने से समस्याएँ उपस्थित होती हैं और उनको सुलझाने में बालक स्वयं अपने आप सिद्धान्त तक पहुँच जाता है। साधारण शिक्षा मे पहिले सिद्धान्त और फिर समस्या आती है जो पूर्णतया अवैज्ञानिक है। इस पद्धति में बालक को आरम्भ से ही सावधान रहना पड़ता है और वह निश्चित उद्देश्य को लेकर उसकी पूर्ति के लिये प्रयत्न-शील रहता है। अपने कार्य के साथ समाज के उचित व्यवहार पर भी ध्यान देता है इस तरह उसमें आचार की शुद्धता आती है। किन्तु आवश्यक यह है कि उसके सम्मुख समस्याओं के अनुकूल स्वाभाविक वातावरण उपस्थित किया जाय। इसमें बौद्धिक विकास की भी संभावनाये है। इससे स्वयं सोचने समझने की शक्ति का विकास होता है और स्मरण-शक्ति के साथ तर्क-शक्ति का समावेश होता है। इस पद्धति में बालक विभिन्न विषय एक साथ सीख सकते हैं जो साधारण शिक्षा में नहीं हो सकता। इसमें कार्य की पूर्णता ही परीक्षा है। इसमें भी कई दोष बताये गये है।

इसमें अभ्यास के लिये गुंजायश नहीं है जिससे व्यवहार पर आदतें बनती है। इसमें संगठन का क्रम नहीं है। क्योंकि प्रोजेक्ट

के साथ ही सीखी हुई बातों का भी अन्त हो जाता है। प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में कई कार्य ऐसे होते हैं जिनकी शिक्षा की दृष्टि से कोई महत्व नहीं होता है। इसमें समय अधिक लगता है। तात्कालिक समस्याओं की ओर ध्यान देने से स्थायी मूल्य की बातों की ओर ध्यान नहीं जाता है।

गैरी पद्धति :—

यह पद्धति गैरी नामक औद्योगिक ग्राम में वर्ट महोदय ने आरंभ की है। स्थानाभाव के कारण बालकों को कई ग्रूपों में बांट दिया जाता है जो एक ही छोटे से स्थान पर एक के बाद दूसरे शिक्षा पाते हैं। जब एक कक्षा में अध्ययन करते हैं तो दूसरे कक्षा के बाहर व्यावहारिक शिक्षा में लगे रहते हैं। इससे फर्नीचर की बचत होती है। शिक्षा में ऐसे विषयों का समावेश होता है जो कक्षा के बाहर व्यावहारिक ढङ्ग से सिखाये जा सकते हैं। कक्षा के भीतर अध्ययन तथा बाहर व्यावहारिक शिक्षा के बारी-बारी से हेर फेर के कारण काम में थकावट नहीं आती और स्वाभाविक मनोरंजन होता रहता है। काम के बाद खेल और उद्योग के बाद काम। इस तरह कार्य-परिवर्तन द्वारा उसकी रुचि बनी रहती है। साथ ही कक्षा के बाहर जो व्यावहारिक कार्य सामूहिक रूप में होते हैं उनका समाज से सम्बन्ध होता है और वे समाज के लिए उपयोगी बन जाते हैं। इस प्रकार शिक्षालय समाज का एक छोटा सा रूप हो जाता है।

डेक्रॉली पद्धति :—

डाक्टर डेक्रॉली महोदय ने बेल्जियम देश में यह पद्धति आरम्भ की है। उनका सिद्धान्त है कि बालक जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा पाता है। यह उनका कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि शिक्षा जीवन के लिए है तो पद्धति भी जीवन पर ही आधारित होनी चाहिए। इस व्यवस्था में घर और शिक्षालय के वातावरण में एकता और समानता स्थापित की गई है। बालक जब घर से स्कूल

में आता है तो इस पद्धति में वह अनुभव करता है कि स्कूल में भी घर की भाँति ही सुविधाएँ हैं। वहाँ घर की भाँति ही स्वतन्त्रता है तथा वैसी ही उनकी देखभाल भी होती है। इसकी विशेषता है कि बालकों को पुस्तकों का अध्ययन नहीं करना पड़ता। उन्हें निरीक्षण और अनुभव के आधार पर शिक्षा दी जाती है। बालक जो देखते और अनुभव करते हैं उन्हें अपनी पुस्तक में लिखते हैं। इस प्रकार वे अपनी स्वयं ही पुस्तक की रचना करते हैं जिसमें उनकी रुचि की प्रधानता होती है।

विनेटिका पद्धति :—

इसके निर्माता अमेरिका के डाक्टर वाशबर्न हैं। (१) उनके सिद्धान्त के अनुसार सफलता प्राप्त करने के लिए जिन बातों की बालक को आवश्यकता है वह सिखाई जाय। (२) बालक की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध उसकी मूल प्रवृत्तियों और प्रकृति के अनुकूल किया जाय। (३) बालक के व्यक्तित्व का विकास इस प्रकार किया जाय कि वह समाज के हित में हो। (४) बालक को व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का पूरा ज्ञान हो और वह समाज की उन्नति के लिए सदा तत्पर हो। इसीलिये उसके पाठ्यक्रम में सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं और व्यक्तिगत विकास की आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार यह सामाजिक और वैयक्तिक विकास पर संतुलित समानता से ध्यान देता है।

बटाविया पद्धति :

इसके जन्मदाता अमेरिका के डाक्टर जान केनेडी थे। इन्होंने भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक शिक्षा के सामञ्जस्य पर जोर दिया। इनकी पद्धति में तीन बातों का समावेश है। स्कूल की सामूहिक शिक्षा में व्यक्तिगत शिक्षा का भी ध्यान हो। शिक्षक विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास की ओर ध्यान दें। शिक्षक की पद्धति व्यक्तिगत हो। इस प्रकार वे मानते थे कि बालक ही शिक्षा का केन्द्र है।

शिक्षा बालक के लिए है। उसमें बालक की प्रधानता है और उसके विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये।

इन सब पद्धतियों के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा में इन सब पद्धतियों के उपयोगी तत्त्वों का स्वाभाविक ही समावेश हो गया है और वह भारतीय परिस्थिति और आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल ही हैं।

४१

खेल द्वारा शिक्षा

खेल मनुष्य मात्र को प्रिय है। खेल किसी न किसी रूप में सब ही खेलना चाहते हैं। बच्चा, युवा, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी की इस ओर समान प्रवृत्ति है। यह खेल की स्वभाविक प्रवृत्ति मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है किन्तु अन्य जानवर भी खेलते हैं। इस प्रकृति दत्त शक्ति का उपयोग उनके शिक्षण और कल्याण ही के लिए होना है। खेल क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? इसके अध्ययन से पूर्व हम भिन्न-भिन्न विचार धाराओं का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि इसके द्वारा मनुष्य का क्या हित होता है। इस विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त है कि प्राणी को प्राकृतिक शक्ति मिली है उसको जीवन की आवश्यकताओं में व्यय करने के पश्चात भी अतिरिक्त शक्ति बच रहती है। अतएव उसके निकास के लिए खेलों का विधान किया गया है। किन्तु इस कल्पना में मतभेद है। इंजन से तुलना करते हुए बताया है कि इंजन की अतिरिक्त शक्ति उसके विकास के काम में नहीं आती और खेल की अतिरिक्त शक्ति द्वारा मनुष्य उन्नति करता है, विकास करता है, ऐसा कहना है। मनुष्य को अन्य कामों में थक जाने पर भी खेल की ओर प्रवृत्त होना इस अतिरिक्त शक्ति के निकास के सिद्धान्त को नहीं मानता है।

लार्ड किम्स ने पुनः आनन्दवाद के सिद्धान्त को अपनाया है।

उनके अनुसार अतिरिक्त शक्ति का व्यय न होकर खोई हुई शक्ति का पुन: निर्माण होता है। यह सिद्धान्त छोटे बच्चों की खेल की ओर प्रवृत्ति को कैसे लागू हो सकता है जबकि उनकी शक्ति का ह्रास ही नहीं होता है।

स्टेनलेहाल एक विशेष व्याख्या द्वारा कहते हैं कि खेल के द्वारा बालक मानव जाति के विकास की पुनरावृत्ति करता है। बाल्य-काल एक असभ्य मानवता का काल है। इस समय बालक उसी इतिहास को दुहराता है इसीलिए इस अवस्था में उसे सभ्यता के आरम्भ काल के ही खेल पसन्द हैं इस सिद्धान्त को पुनरावृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि बालक को खेल से इसलिये प्रेम है कि खेल में उसकी खोई हुई पुराने काल की स्मृति जाग उठती है।

कार्लग्रूस की व्याख्या भी तथ्य पूर्ण है। वह कहता है कि खेल वास्तव मे प्रकृति की पाठशाला है जिसमें प्राणी भावी जीवन के लिए उपयोगी आचरण की शिक्षा ग्रहण करता है। यह भविष्य जीवन की तैयारी है इसे पूर्वाभिनयवाद कहते हैं। प्रकृति ने मनुष्य के बालक को लम्बा बचपन खेलने के ही लिए दिया है।

कुछ लोग रेचनावाद सम्प्रदाय के हैं जिनका मत है कि बहुत सी प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं जिनके प्रकाशन का सुभोग अवसर नहीं मिलता है। आत्म-गौरव की भावना का दमन होता है। खेलों द्वारा इन प्रवृत्तियों के प्रकाशन से अन्त:करण निर्मल और पवित्र हो जाता है।

देखने में ये सिद्धान्त सम्भव है एक दूसरे के विरोधी दीखें किन्तु हैं वे पारस्परिक पूरक ही। खेलों में शक्ति का संचय आच-रण का परिष्कार ही होता है। वे हमारी मूल प्रवृत्ति के अनुकूल और भविष्य जीवन की तैयारी के अच्छे साधन हैं।

खेल का अर्थ सामान्यत: काम के विपरीत है। काम सोद्देश्य क्रिया है। उद्देश्य प्राप्ति का साधन है। खेल स्वयं साध्य है। वही उसका उद्देश्य और लक्ष्य है। खेल की दूसरी विशेषता स्वयं क्रिया

का होना है। खेल हम अपनी इच्छा से करते हैं दूसरे की प्रेरणा से नहीं। काम नियमित, नियंत्रित व्यापार है, खेल मन का सौदा है। खेल मे भी नियम और बन्धन अवश्य हैं पर हैं वे आत्म-निर्मित ही। अतः बाह्य नियंत्रण काम का लक्षण है और इसका अभाव खेल की विशेषता। खेल के द्वारा मनोरंजन और उसके द्वारा आनन्द प्राप्त होता है। जिस काम मे प्रायः आनन्द प्राप्त होता है वह खेल ही है। अतः काम मनोरंजक हो जाय उसे खेल ही कहा जा सकता है।

अतएव खेल के द्वारा शिक्षा का तात्पर्य यही है कि पढ़ाने की विधि ऐसी स्वभाविक हो कि बालक आनन्द ले और रस की अनुभूति करे। किंडरगार्टेन, मान्तेसरी, प्रोजेक्ट, बालचर पद्धति आदि खेल की इसी उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

बुनियादी शिक्षालय में मूलोद्योग की योजना मे बालक स्वयं खेल का सा ही आनन्द लेते हैं। जिस तरह खेल का मैदान "एक बिना छत के स्कूल" की तरह खेल ही खेल मे बालकों मे अनेक सद्गुण प्रविष्ट कर देता है उसी प्रकार बालक अपनी जीवन की विभिन्न क्रियाओं द्वारा तथा अपने चुने हुए मूलोद्योग की क्रियाओं द्वारा अनेक विषयो का ज्ञान स्वभाविक रूप से ही लेता रहता है। इस प्रकार का किया हुआ काम खेल का ही आनन्द देता है। दूसरी पद्धतियों मे और बुनियादी शिक्षा मे अन्तर इतना ही है कि अन्य पद्धतियों मे खेल और खेल की योजना खेल के अतिरिक्त मूल्य नहीं रखते हैं किन्तु इस योजना मे खेल की भाँति किये गये काम का मूल्य भी है। प्रधानता इस बात की है कि शिक्षक कार्य योजना बनाने मे इतना सफल हो कि काम में बालक खेल का सा ही आनन्द ले सकें।

४२

त्यौहारों और उत्सवों का बुनियादी शिक्षा में स्थान

त्यौहार और उत्सव एक जीवित जाति के जीवन को प्रदर्शित करते हैं। जिस जाति का जितना सांस्कृतिक स्तर ऊंचा होगा उतना ही जीवन उसके त्यौहारों और पर्वों के मानने में होगा। मनुष्य की स्वभाविक प्रवृत्ति प्रकाशन और प्रदर्शन की होती है। इस प्रवृत्ति के लिए उत्सवों में पर्याप्त साधन उपलब्ध होते हैं। उपयोगी कला, ललित कला, साहित्य, समाज शास्त्र आदि के अध्ययन का अच्छा अवसर होता है।

पुराने स्कूलों में इनकी इस उपयोगिता को भुलाकर एक भिन्न प्रकार की ही पृथा प्रचलित है। जहां कि इन अवसरों का उचित उपयोग शिक्षा के उद्देश्य से इनका आयोजन पाठशाला में करके करना चाहिये वहां और इन दिनों पाठशालाओं से बालकों का जीवन ही विछिन्न करके इन 'मनोवैज्ञानिक क्षण' को खो दिया जाता है। ये ही अवसर हैं ये ही साधन हैं जिनके द्वारा बालकों पालकों का, घर व पाठशाला का सम्बन्ध स्थापित होकर सच्चे सामाजिक वातावरण का निर्माण हो सकता है। पाठशाला की शिक्षा को घरों तक पहुँचाया जा सकता है और प्रोढ़ों से सम्पर्क कायम कर गौण रूप से उनकी शिक्षा भी साधन बन सकता है।

उत्सवों को नीचे लिखी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) धार्मिक पर्व।

(२) राष्ट्रीय जयन्तियां।

(३) राजनैतिक त्यौहार।

(४) सामाजिक जयन्तियां (भिन्न-भिन्न धर्मों के महा पुरुषों का जीवन दिवस)

(५) सांस्कृतिक जयन्तियाँ व उत्सव।

(६) पाठशाला के विशेष उत्सव,—वार्षिकोत्सव, पालक दिवस आदि इन त्यौहारों, पर्वों और उत्सवों का उपयोग बालकों की शिक्षा के लिए महत्व का है। समवाय पद्धति की विषय वार व कक्षा'वार योजना में विस्तृत उल्लेख किया गया है।

विद्यार्थियों की उपयोगी शिक्षा के साथ मनोरंजन होकर उनके भविष्य के काम में नया जीवन आ जाता है। इन आनन्द विधायक कार्य क्रमों द्वारा व पाठशाला में घर का सा आभास पाते हैं और सामाजिक जीवन में घुल मिल कर एक दूसरे के अधिक निकट आते हैं। एक ही कार्य की सफलता में सब सामूहिक रूप से तन्मय होकर काम करते हैं। इस प्रकार उनके एक दूसरे के निकट संपर्क में आने से उनमें प्रेम और सहयोग से काम करने की भावना का उदय होता है। योजना बनाना, सफल संचालन, आवश्यक सामान की खोज व प्राप्ति, सामान अप्राप्त होने की दशा में काम चलाऊ सामान बनाने की सूझ, सामान को सम्हाल कर रखने की व्यवस्था, दिये हुए काम को पूरा करने का उत्तर दायित्व, काम को पूरा करने का धैर्य व साहस, आमन्त्रित लोगों का स्वागत व सत्कार, व्यवहारिक शिष्टाचार, कार्य क्रम बनाने की योग्यता, उसका लक्ष्य पूर्ण चयन, आदि गौण रूप से इसी के अंग हैं।

लेखक का स्वयं का अनुभव है कि जो बालक कभी भी काम नहीं करते हैं व उनको आलसियों की श्रेणी में छोड़ दिया जाता है वे भी ऐसी योजनाओं से अनुप्राणित होकर बड़े मेहनती और काम करने वाले बन जाते हैं। उत्सवों के विशाल आयोजन में मैंने

बालकों को उत्साह पूर्ण महारथियों की भांति काम करते देखा है। जो कभी पुस्तकें नहीं पढ़ते हैं अपने एकांकी, प्रहसन व ड्रामा, डायँलाग, मुखाग्र पाठ आदि की योजना के लिए ढेर की ढेर पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। एक पालक दिवस के आयोजन का मुझे स्मरण है जब कि बालकों ने स्वयं ही पाठशाला में भाग लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की सुरुचि पूर्ण सुस्वादु वस्तुओं की तैयारी कर पालकों को प्रीति भोज देकर अपनी व्यवस्था की दक्षता से मुग्ध कर दिया था। इस प्रीति भोज के स्वतन्त्र आयोजन में स्वभाविक रूप से शिक्षा के कितने अंगों का समावेश हो सका होगा शिक्षा प्रेमियों के लिए ही विचारने की वस्तु है।

प्रदर्शिनी पर जैसा पृथक प्रकाश डाला है वह भी इन अवसरों का अंग हो सकती है और पाठशाला की बहुमुखी प्रगति दिखाने मे योग दे सकती है।

शारीरिक, साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक अंगों का कार्य क्रम में भिन्न-भिन्न रूप से समावेश किया जा सकता है। ट्रेनिंग केन्द्रों पर तो भिन्न-भिन्न मंडलों से आये हुए छात्राध्यापकों की मासिक उत्सव की योजना द्वारा पूरे प्रान्त की संस्कृति के अध्ययन का अवसर मिल जाता है।

यह ध्यान रखना अवश्य आवश्यक है कि उत्सव की तैयारी पर्व और त्यौहार ही के अनुरूप हो। जिस समय जिन बातों के समावेश की आवश्यकता हो केवल उन ही को स्थान दिया जाय। अनावश्यक भरमार से भी कार्य क्रम में दोष आ जाता है।

आज कल त्यौहारों पर अकारण ही बहुत बड़ी धन राशि वृथा खर्च करने की भी प्रथा सी हो चुकी है। इसके विपरीत बहुत से निर्माण कारी तथा समाज सेवा के कामों का कार्य क्रम में समावेश कर इसमें सुधार किया जा सकता है। इससे राष्ट्र सम्पत्ति की वृद्धि भी होगी।

लेखक का स्वयं का एक सेवा ग्राम का अनुभव है कि राष्ट्र पिता

बापू के वार्षिक श्राद्ध की योजना में रुई से इकट्ठा करने की क्रिया से कार्यारम्भ करके कपड़े बनाने तक की क्रिया का समावेश कार्य क्रम में करने से १० ही दिन मे कपड़ों के थान के थान इकट्ठा हो जाते हैं। स्वावलम्बन भी है समाज सेवा भी है। साथ ही विशेष प्रार्थना, प्रवचन, भजन कीर्तन और आनन्द विधायक कार्य क्रम उसके मनोरंजन का साधन हो जाते हैं इस प्रकार का त्योंहार मनाने की यह पद्धति शैक्षणिक और सामाजिक उपयोग रखती है।

—— ——

४३

कार्यक्रम में प्रदर्शिनी का स्थान

शिक्षा को स्वानुभव द्वारा आत्मा को पहचानने का साधन बताया गया है। आत्मा का स्वभाव है प्रकाश में आना। अतः आत्मिक गुणों का प्रकाशन या प्रदर्शन भी इसी उद्देश्य के अन्तर्गत आता है। शिक्षा के दो काम हैं। एक ज्ञान की प्राप्ति और उसका संचय। दूसरा प्राप्त ज्ञान का प्रकाशन। भाव व्यञ्जना और भावाभियक्ति से भी इसी का तात्पर्य है। यह मौखिक भी होता है और लेखी भी। भाषा द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों को दूसरे पर अव्यक्त करता है। भाषा और साहित्य का उद्देश्य भी यही है। भाषा की आवश्यकता और निर्माण भी इसी उद्देश्य को लेकर हुआ। भाव प्रकाशन की सबसे प्राचीन शैली चित्र लिपि ही रही है। चित्र लिपि, चित्र कला आदि हमारे मस्तिष्क के विचारों और हृदय की भावनाओं और कल्पनाओं को मूर्तिमान स्वरूप देती है। यह मस्तिष्क की क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष रूप है। दस्तकारी और उद्योग मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का आश्रय पाकर आत्मा के अनेक गुणों के प्रकाशन का साधन बन जाते हैं। इस प्रकाशन तथा प्रदर्शन के अनेक रूपों के समारोह को प्रदर्शिनी कहते हैं।

बुनियादी स्कूलों में प्रदर्शिनी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इससे पाठशाला की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। गौण रूप से यह पाठशाला के कार्य की परीक्षा भी कही जा सकती है। इसके

द्वारा पाठशाला की नवीन योजना व्यवस्था और खोज का पता चलता है। पाठशाला की शिक्षण पद्धति को समझने के लिए भी पर्याप्त सामग्री होती है। बुनियादी शिक्षा के कार्य क्षेत्र, पद्धति और उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए प्रचार और प्रसार कार्य भी होता है।

बालक आत्म गौरव चाहते हैं। वे प्रशंसा के भूखे होते हैं। वे अपनी कृतियों को दूसरों के सामने रखकर और प्रशंसा पाकर ही सन्तोष मानते हैं। आर्थिक पुरस्कार उनको इतने महत्व के नहीं हैं जितनी उनकी कार्यों की सराहना। अत: पाठशाला में ऐसे अवसरों का आयोजन अवश्य होना चाहिए जब कि बालकों के कार्यों का प्रदर्शन हो सके। प्रदर्शिनी उसका एक उत्तम साधन है। अन्य आनन्द विधायक कार्यक्रम भी यद्यपि इस दिशा में काफी योग देते हैं। इस उद्देश्य को लेकर ही पाठशाला को वार्षिकोत्सव, बालक दिवस अथवा उसी प्रकार के अन्य किसी उत्सव का आधार लेकर इस प्रकार के कार्यक्रमों को स्थान देना चाहिए जिसमें पर्याप्त संख्या में दर्शक विशेष कर बालकों के पालक अवश्य ही भाग लें। जनता को पद्धति में विश्वास होगा पालकों को अपने बच्चों की प्रगति में श्रद्धा होगी और पाठशाला को सहयोग प्राप्त होगा। पालकों और बालकों के दोनों की शिक्षा का क्षेत्र निर्माण होगा।

प्रदर्शनी में शिक्षक और विद्यार्थियों द्वारा बना हुआ सामान रखा जाय। उनमें से भी प्रदर्शन के योग्य चुना हुआ ही रखा जाय। इस सामान के साथ चार्ट आदि भी उपयोगी हैं। काम का ब्यौरा, काम की प्रगति, काम की पद्धति साफ और चित्रों द्वारा रखी जा सकती है। चित्रों द्वारा उन लोगों को भी लाभ प्राप्त होता है जो साक्षर नहीं है, साथ ही बच्चे के आकर्षण का तो यह मूल आधार ही है। जो बात वे पुस्तक के कई पृष्ठ पढ़कर नहीं समझ सकते एक अच्छे बने हुए चार्ट से आसानी से समझ जाते हैं।

सामान की व्यवस्था विभागानुसार ही होना चाहिये। एक विभाग का सामान उसी विभाग में रखा जाय। बने हुए सामान को यदि और स्पष्ट वर्णन या व्याख्या की आवश्यकता हो तो चार्ट की सहायता ली जाय। चार्ट ऐसे स्थान पर लगाये जाय जहाँ से सब पढ़ कर उनका लाभ उठा सकें। इसी प्रकार बनाई हुई चीजें भी जहाँ से वह ठीक-ठीक तरह से देखी और समझी जा सकती हैं रखी जाँय। शिक्षण पद्धति, बुनियादी साहित्य जो शैक्षणिक पहलू से बनाये गये हैं उनका समुचित वर्णन हो अथवा उनको समझाने वालों की व्यवस्था की जाय।

प्रदर्शनी से स्पष्ट हो जाय कि पाठशाला की क्या-क्या प्रवृत्तियाँ हैं और किस पद्धति से काम लेकर क्या प्रगति की जा सकी है। विद्यार्थियों की कार्यशीलता को मानसिक विकास के लिए किस प्रकार काम में लाया जा रहा है। इसको समझ कर काम के द्वारा शिक्षा की योजना में लोगों को विश्वास होगा और इस शिक्षण पद्धति को लोग उपयोगी समझेंगे।

विद्यार्थियों को भी एक दूसरे की बनाई हुई चीजों की विशेषता पूरी तरह समझाई जाय। वे कैसे बनाई गई हैं? क्या खर्च पड़ा है क्या उपयोगिता है? क्या शास्त्रीय आधार है? क्या इसमें आर्थिक लाभ है? इस प्रकार सिद्धान्त और व्यवहार का सामंजस्य करके पूरा स्पष्टीकरण होना चाहिए। इस तरह से बच्चों की आँखे खुलती हैं। सूझ बढ़ती है। वे अपनी प्रगति और विकास का मूल्यांकन कर सकते हैं, उनकी सृजन शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर पाकर वे सन्तुष्ट और प्रसन्न होते हैं।

प्रदर्शनी के स्थान की रचना भी सुरम्य और आकर्षक की जाना चाहिए। स्वच्छता और सजावट का पूरा ध्यान रखा जाय। स्थान इतना हो कि प्रदर्शित वस्तुएँ दर्शकों द्वारा भली भाँति देखी जा सकें जहाँ चीजों के दिखाने और समझाने की आवश्यकता हो वहाँ

विद्यार्थियों को पूर्व तैयारी द्वारा इस कार्य की शिक्षा दी जाय। प्रदर्शिनी की रचना जितनी आवश्यक है उतनी ही व्यवस्था भी। दर्शकों को आने जाने की सुविधा यथोचित दी जाय। उनके साथ वर्ताव भी अच्छा हो जिससे पाठशाला के कार्य और व्यवहार दोनों की उन पर छाप पड़े। पाठशाला के सारे जीवन का प्रदर्शनी मे चित्रमय दर्शन हो जिससे दर्शक लाभान्वित होकर प्रभावित भी हों और पाठशाला उनके हृदय मे स्थाई घर कर ले। पाठशाला में प्रौढ़ों को न लाकर पाठशाला को प्रौढ़ों के पास ले जाने का यह सुगम साधन है।

लेखक का स्वयं का अनुभव है कि विद्यार्थी भी इस आयोजन में आशातीत प्रयत्न करते हैं और वह पालकों के भी आकर्षण का कारण बन जाता है। मुझे स्मरण है कि मध्य भारत की एक बड़ी माध्यामिक पाठशाला में इस उद्देश्य को लेकर कि बालकों की सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए पाठशाला में कार्यक्रम बनाया जाय एक योजना रखी गई थी कि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ बनावे। पाठशाला के भिन्न-भिन्न विभाग इस प्रकार रुचि के आधार पर बने हुए ग्रूपों का संचालन करें व उनकी तैयारी मे सहायता दें। वह सामान जो विद्यार्थी बनावें उनमें से प्रत्येक अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति अपनी माता को भेंट करेगा। माता ही सर्व प्रथम गुरु है। इस योजना का नाम 'मातृ दिवस' था। इस दिन विद्यार्थियों की सब माताओं को आमन्त्रित किया गया था। बालकों की भेंट की जाने वाली कृतियों की एक विशाल और सुन्दर प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था। इस आयोजन में कितनी भावना और आत्म भाव था इसका अनुभव तो दर्शक और अपने बच्चों की कृतियों को देखकर गौरवान्वित अनुभव करने वाली माताओं के हृदय से ही पता चल सकता है। क्या माताओं ने कभी इस प्रकार सामूहिक रूप से अपने बच्चों के कार्यों को देखकर पाठ-

शाला की प्रगति का प्रत्यक्ष दर्शन कर सन्तोष का अनुभव किया होगा ?

ऐसे अनेक अवसरों की योजना और उनसे लाभ उठाने का कार्य एक अनुभवी और उत्साही शिक्षक के खुले हुए मस्तिष्क की सूझ हो सकती है। पाठशाला के अनेक पर्व, उत्सव, त्यौहार और समारोह ऐसे अवसर प्रदान करते हैं।

४९

बुनियादी तालीम द्वारा प्रौढ़ शिक्षा

भूमंडल की जन संख्या में से अब भी आधे से दो तिहाई तक निवासी साक्षर नहीं हैं। इसमे से भी दो तिहाई एशिया महाद्वीप में ही है। इनमे से भी एक तिहाई भारत में है जिसके आधार पर यहाँ की निरक्षरता का औसत ७३ फीसदी बताया जाता है। आश्चर्य है शिक्षा-दीक्षा में गुरु कहाने वाला देश अन्य देशों के साथ प्रगति मे इतना पीछे क्यों रह गया? इसका एक मात्र उत्तर यहाँ की परतन्त्रता ही रही जिससे विदेशी शासन के आधीन राज्य सम्बन्धी सेवाओं के अतिरिक्त यहाँ की जन समाज को शिक्षित बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दूसरी ओर जनता द्वारा संचालित एवं आश्रित संस्थाएँ भी धीरे-धीरे लुप्त होकर शिक्षा केवल इसी राजकीय उद्देश्य की पूर्ति करने वाली संस्थाओं तक ही सीमित रह गई। इन संस्थाओं का उद्देश्य राजकीय सेवा के अतिरिक्त न तो समाज शिक्षा था न आम जनता की व्यापक शिक्षा की व्यवस्था।

परिस्थिति की विषमता यहाँ तक पहुँच गई कि इन निरक्षर कहलाने वालों मे प्रौढ़ों की संख्या करोड़ों में गिनी जाने लगी। लोकतन्त्र के उदय के साथ यह परिस्थिति एक गम्भीर चिन्ता का विषय हो गई व अनेक योजनाएं, प्रौढ़ शिक्षा, समाज शिक्षा नाम से चलने लगीं। अन्य देशों के प्रयोगों के आधार पर हम देखेंगे कि कौन सी योजना के कौन-कौन तत्त्व हमारे देश की योजना में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

चीन और जापान के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि बच्चों व प्रौढ़ों को शिक्षा देनी की पद्धति और साहित्य दोनों में ही विभिन्नता की आवश्यकता है। उनको पुस्तकें उनके उद्योग धंधों से सम्बन्ध रखने वाली होनी चाहिये। ईसाई प्रचारकों ने अफ्रीका के अन्धकारमय प्रायद्वीप में शिक्षा की ज्योति जगाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उनका शिक्षा प्रसार का उद्देश्य धर्म प्रचार मे ही था तो भी शिक्षा की पद्धति के अनुभव तो लाभ ही उठाने के योग्य हैं। यहाँ पर एक युवक व युवती का जोड़ा निकटवर्ती ग्राम के शिक्षण केन्द्र पर शिक्षा ग्रहण करते थे। यहाँ की दीक्षा के पश्चात् वे किसी ग्राम में स्थाई रूप से रहकर वहाँ सामाजिक शिक्षण कार्य करते थे जिसमें खेती, पशुपालन आदि की व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध रहता था। साक्षरता के साथ स्वास्थ्य एवं सफाई संचालन केन्द्र का भी काम चलता था। बच्चों का पालन पोषण व घरेलू धन्धों की शिक्षा देना स्त्री का काम था। ये ग्रामवासियों के निकट सम्पर्क में आकर उनकी व्यावहारिक समस्याओं का अध्ययन करते थे और उनके हल करने में सहयोग देकर सामाजिक व राजनैतिक समस्याओं में मार्ग दर्शन करते थे।

ऐसा ही प्रयोग चीन देश में भी किया गया था। इस प्रकार के युवक व युवतियों को शासन की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। उनके केन्द्रों पर साक्षरता के अतिरिक्त, उत्तम खेती के प्रदर्शन, बीज, औजार व जानवरों की नस्ल ठीक करने की व्यवस्था, सहकारी समिति एवं स्वास्थ्य केन्द्र के संचालन का कार्य इन्हीं केन्द्रों तत्वावधान में होता था। नागरिकों के कर्तव्य तथा शासन सम्बन्धी ज्ञान के प्रसार के हेतु मंडल के अधिकारी साप्ताहिक भाषणों का आयोजन करते थे। केन्द्रों पर चल व अचल पुस्तकालय की व्यवस्था थी।

इन प्रयोगों में हमको हमारी योजना के अनुकूल कुछ विचार मिलते हैं। बीच के युग की शिक्षा पद्धति ने पाठशाला और घर

के वातावरण को दूर रखा। पालकों का क्षेत्र बालकों से विछिन्न था। विद्यार्थियों का जीवन उनके पालकों के जीवन व धंधों से कोई सम्बन्ध न रखता था। शिक्षा की धारा परिवार की व समाज की आवश्यकताओं से भिन्न ही बहती थी। घरेलू व्यवहारिक शिक्षा का लाभ न तो बालक उठा सकते थे और न पाठशाला की शिक्षा से ही पालकों को कोई सम्बन्ध था। शिक्षा प्राप्त करके गावों में जाकर अपने परम्परागत व्यवसाय की वृद्धि करना तो दूर ही रहा वे तो दूसरे ही उद्देश्य की शिक्षा प्राप्त होकर अपने धंधे से नाता तोड़ बैठते थे। इसकी सब भूमिका बड़ी लम्बी चौड़ी है किन्तु है इसका सम्बन्ध बालकों व पालकों की शिक्षा ही से।

बुनियादी शिक्षा की योजना मे बापू कहते थे कि यदि प्रौढ़ या पालक मदर्से न आवें तो बुनियादी शिक्षा ही मदर्से को उनके पास ले जाने का साधन है। योजना की मीमांसा से स्पष्ट है कि मूलोद्योग का चुनाव बालकों के वातावरण ही के अनुकूल होगा। तात्पर्य यह कि जो उस क्षेत्र का व्यापक उद्योग है वही उस क्षेत्र की पाठशाला का मूलोद्योग होगा। इस योजना में क्या पालक और बालक का निकट सम्बन्ध नहीं रहेगा? क्या बालक द्वारा पाठशाला में प्राप्त शास्त्रीय ज्ञान से उसका पालक वंचित रह सकेगा। पाठशाला का ज्ञान पालक तक पहुँचाने के लिए बालक ही अलक्ष्य रूप से संदेशवाहक होगा। पाठशाला की व्यक्तिगत तथा सामूहिक सफाई की योजना से क्या पालक उदासीन रह सकेंगे। क्या स्वास्थ्य सफाई के नियमों व योजनाओं को केवल बालकों के ही मस्तिष्क की धरोहर बनाकर छिपा कर रखा जा सकेगा? पर्व, उत्सवों व त्योंहारों की योजनायें आनन्दित पालक पाठशाला के कार्यक्रम मे किसी भी प्रकार लाभान्वित न होंगे? क्या सामाजिक जीवन के नियमों मे बंधे हुए व अनुशासन के अभ्यासी बालकों का उनके पालकों पर कोई प्रभाव न होगा? बालक जिस उद्योग को केवल जीवनोपार्जन मात्र का ही साधन मान बैठे हैं

उसी उद्योग द्वारा बालक पाठशाला में अनेक विषयों का अध्ययन कर बहुमुखी उन्नति कर सकेगा। क्या यह प्राप्त ज्ञान उनके पालकों के उद्योग धन्धों की उन्नति नहीं करेगा और बालकों की तरह भिन्न भिन्न शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करने का साधन नहीं हो सकेगा।

पाठशाला इस योजना में समाज का ही एक लघुरूप होगा। सामाजिक प्रवृत्ति ही उसका मूलोद्योग होगा। बालक समाज में ही रहकर अपनी उन्नति करेंगे और शिक्षा को अपने घरों तक ले जाकर पालकों को भी शिक्षित करेंगे। अतः शिक्षा की इस योजना में तथा उसके कुशल संचालन मे प्रौढ़ों को भी शिक्षित किये जाने की अलक्ष्य शक्ति है।

४५

बुनियादी शिक्षा द्वारा नव निर्माण

किसी राष्ट्र अथवा समाज को किसी एक निश्चित दशा में ले जाने का साधन शिक्षा ही है। देश की अथवा राष्ट्र की आवश्यकता के अनुकूल ही शिक्षा की परम्परा बनती है। अतः शिक्षा पद्धति ही में समाज में पूरी क्रान्ति लाने की शक्ति है। इस क्रान्ति की बुनियाद ही पाठशालाएँ हैं। जैसी शिक्षा वहां होगी वैसा ही समाज का ढांचा बनेगा।

आज का समाज का ढांचा ढह रहा है। सामाजिक जीवन में हिंसा, अन्याय, विरोध, शोषण, स्वार्थ आदि की दूषित भावनाओं ने प्रवेश पा लिया है। मनुष्य संकुचित रूप में अपना ही सोच पाता है। उसमें समाज हित की कल्पना भी नहीं है। वह नहीं जानता कि समाज का वह एक अंग है। समाज को उन्नत बनाकर ही वह अपनी उन्नति कर सकता है। समाज के हित में ही उसका हित निहित है।

इस समाज का अन्त होकर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित होनी चाहिये जिसका आधार प्रेम, दया, सत्य, अहिंसा और सहयोग हो। मनुष्य केवल अपनी ही भलाई न सोचकर सब की भलाई का विचार करे। मानव मानव का भाई है और राष्ट्र राष्ट्र मिलकर मानवता की उन्नति करे। सहयोग की भावना ऊँचे स्तर की हो। सामूहिक उन्नति में ही व्यक्ति की उन्नति के साधन हैं।

इस पद्धति के कार्यक्रम इसीलिये सामाजिक दृष्टिकोण से बनाये गये हैं। उद्योग को वातावरण के अनुकूल चुनकर उसे शिक्षा का केन्द्र मानना सामाजिक आधार ही है। यह स्वावलम्बन द्वारा द्वारा समाज की जड़ को मजबूत बनाता है। साधनों में स्वतन्त्रता देता है। हमारी संस्कृति के आदि स्थान ग्रामों को उजाड़ से बचाने वाला है। उनसे दरिद्रता और शोषण दूर करने वाला है। ग्रामोद्योगों के पुनर्निर्माण से राष्ट्र की सम्पत्ति की वृद्धि करने वाला है।

ग्रामोद्योग पूँजी और सत्ता दोनों को ही विकेन्द्रित करने वाला है। प्रत्येक कारीगर को अपनी कारीगरी में विकास करने की काफी गुंजायश और स्वतन्त्रता है। वह अपने यन्त्र का आप मालिक है। स्वावलम्बी है, स्वतन्त्र है। इसके द्वारा न तो धन का केन्द्रीकरण होगा और न उससे समस्याएँ उत्पन्न होंगी जो विश्व की शान्ति को भंग करने को मुँह खोले बैठी रहती हैं। बड़े-बड़े उद्योगों को बड़ी मात्रा में कच्चा सामान चाहिये। आवश्यकता से अधिक बनेका उत्पादन होगा जो दूसरे राष्ट्रों पर लादा जायगा। कच्चे सामान प्राप्त करने को व बने हुए सामान की बाजारों में खपत करने को एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगलने की कोशिश करता है। विशाल सैनिक संगठन की आवश्यकता होती है और सदा ही संसार युद्ध की विभीषिका से त्रस्त रहता है। क्या यह बर्बरता नहीं है? क्या इसी को सभ्यता का विकास कहते हैं?

आर्थिक व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य आध्यात्मिक होना चाहिये। इसका प्रमाण यह नहीं है कि भौतिक साधनों में कितनी उन्नति की है बल्कि यह कि उसमें मानवता के गुणों का कितना विकास हुआ है। सहयोग, आत्म त्याग, आत्म विश्वास और भ्रातृ भाव में कितनी उन्नति हुई है।

बुनियादी तालीम इसीलिए बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ण शिक्षा देकर तालीम की बुनियाद कायम करती है और अपनी

बुनियादी सांस्कृतिक परम्परा के प्रति श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न करनी है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की योग्यता प्रदान करना और सहयोग से काम करने की आदत डालना इस योजना का लक्ष्य है। समाज को आर्थिक निःशक्तीकरण से बचाने के लिए उद्योग द्वारा स्वावलम्बन एक स्वतन्त्र समाज के ही निर्माण की पद्धति है।

इस तरह की शिक्षा समाज का नवीन आदर्शों के आधार पर नव निर्माण करने वाली है। समाज में वही व्यक्ति प्रशंसा व सम्मान का पात्र होगा जो अपनी बुद्धि का भी पूरा प्रयोग करे व शारीरिक श्रम भी करे। श्रम के द्वारा मनुष्य के अन्तर्हित गुणों का विकास होता है। बुद्धि श्रम का परिहार करती है और श्रम बुद्धि का परिष्कार करता है। बुद्धि और श्रम के सुमेल से एक संतुलित व्यक्तित्व का विकास होकर एक सम्पन्न, समृद्धिशाली, आत्मनिर्भर और सहयोगी समाज का नव निर्माण होगा।

व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम होगा, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच सहयोग होगा और सब मिलकर मानवता को उठाने सद्भावना से सर्वोदय में संलग्न हो जायगे। यही नव निर्माण है।

— —

४६

पाठशाला में धार्मिक शिक्षा

लोगों के मस्तिष्क में आजकल यह प्रश्न है कि पाठशाला में धार्मिक शिक्षा होनी चाहिये या नहीं। क्या पूर्व में, क्या पश्चिम में दोनों ओर आजकल बहुत से लोग इस मत के हैं कि धर्म को स्कूल से दूर ही रखा जाय। इसका कारण यह है कि जातीय धर्म कहीं बालकों में संकुचित भावना का उदय न करे, जहां कि उनमें परस्पर प्रेम और सम्मान होना चाहिये। साम्प्रदायिकता की इस शिक्षा ने ही बचपन से द्वेष और संकुचित भाव पैदाकर दिये हैं जिनको कि आज की दुनियाँ में भेद-भाव व फैल-फूट करने का कारण कहा जा सकता है। कुछ ऐसे भी हैं जिनका मत है धार्मिक शिक्षा को स्थान न देते हुए केवल सदाचार की ही शिक्षा को स्थान मिलना चाहिये।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सब धर्मों की तुलनात्मक शिक्षा दी जांय ? इसमें भी डर यह है कि औसत दर्जे के शिक्षक अपने ही धर्म की तराज़ू पर दूसरे धर्मों को तोलेंगे और उसी को सर्वश्रेष्ट बताने का प्रयत्न करेंगे। अपने धर्म की अच्छी से अच्छी बात की तुलना दूसरे धर्म की बुरी से बुरी बात से करेंगे और द्वेष तथा भेद-भाव की खाई बढ़ती ही जायगी।

यह संभव भी है और अनुचित भी नहीं है कि विश्व के सब बड़े-बड़े सम्प्रदायों के मूल-सिद्धान्त बिना उनमें समानता अथवा

असमानता की तुलना करते हुए सब बालकों को साथ-साथ समझाये जाँय। जिससे उनका द्वेष-रहित अध्ययन हो। अच्छा तो यह है कि बालकों के मस्तिष्क को सूखे धार्मिक सिद्धान्तों और दार्शनिक विचारों से न लादा जाय बल्कि उनके मस्तिष्क को धार्मिक रोचक कहानियों द्वारा तृप्त कर दिया जाय जिसमें सभी धर्मों की उन्नत कहानियों का समावेश हो। धर्मवीरों की जीवनियाँ और उनके द्वारा अन्दोलन का इतिहास भी बालकों में धार्मिक भावना की जाग्रति करता है। १५ वर्ष की अवस्था तक तो बालकों को इतिहास के उन महापुरुषों की जीवनियों का ही अध्ययन कराना चाहिये जो धार्मिक नेता थे और जिन्होंने उन संगठनों की स्थापना की है जिनके द्वारा मनुष्य ने आत्मोन्नति की है।

इन जीवनियों के अध्ययन में भी संकीर्णता नहीं होनी चाहिये। यह नहीं कि केवल अपने ही धर्म के महापुरुषों की जीवनियों का अध्ययन कराया जाय बल्कि मनुष्य जाति के उन सब महात्माओं की जीवनियों का अध्ययन में समावेश होना चाहिये जिन्होंने मनुष्य-जाति के सच्चे महान् सुपुत्र होकर संसार के किसी न किसी कोने से मनुष्य जाति को उठाया ही है। इसीलिये सब धर्मों के, सब जातियों के तथा सब युगों के महापुरुषों की जीवनियाँ ली जानी चाहियें। यदि इस प्रकार ठीक तरह से धार्मिक अध्ययन हो सका तो धर्म एक बड़ी शक्ति है जिसके द्वारा निर्भीकता, निःस्वार्थ व सम-भाव जाग्रत हो सकते हैं। एक दूसरे के प्रति सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति तथा विभिन्नता में एकता की भावना द्वारा ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा हो सकती है।

इसके लिये शिक्षकों को सही दृष्टिकोण व सही भावना रखने की आवश्यकता है। चाहे उनको गहरा शास्त्रीय अथवा दार्शनिक ज्ञान न हो किन्तु उनके हृदय में सारे संसार के आध्यात्मिक नेताओं के प्रति महान् श्रद्धा और प्रेम होना चाहिये। दूसरा गुण

यह होना चाहिये कि उनको सत्य की खोज से प्रेम हो। स्वतंत्र मस्तिष्क से सत्य को पहिचानने, परखने, और आदर करने की योग्यता हो। तीसरी योग्यता उसमें धार्मिक अनुभवों को ठीक-ठीक समझने की है। उसे विश्वास होना चाहिये कि धर्म आध्यात्मिक सत्यों की सच्ची खोज है। यदि धार्मिक-शिक्षण का यह लक्ष्य रहा तब तो संसार में एक नवीन मानवता की स्थापना हो सकेगी जिसमें सच्चे मानव के दर्शन होंगे।

धर्म आध्यात्मिक सत्य की खोज के अलग-अलग रास्ते हैं। जैसे एक ही निशाने पर अलग-अलग स्थान से लोग निशाना लगाते हैं, उसी प्रकार का सम्बन्ध सत्य अथवा ईश्वर का और सब धर्मों का है। किसी कवि ने ठीक कहा है 'अजब निशाना एक है तीरंदाज़ अनेक।'

एक समय का प्रसंग है कि कुछ बालक जिनकी भाषा अलग-अलग थी, आपस में लड़ रहे थे और अपनी-अपनी भाषा में तरबूज लेने को कह रहे थे। इसी बीच में एक ऐसा आदमी आगया जो सब भाषाओं को जानता था। उसने सब के पैसे ले लिए और एक तरबूज लेकर टुकड़े करके सब को बाँट दिये। वे सब संतुष्ट हो गये। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म अपनी भावनाओं के अनुसार ईश्वर अथवा सत्य का प्रतिपादन करता है। विचारधाराऐं भिन्न अवश्य हैं पर हैं वे सब एक ही ईश्वर को प्राप्ति के मार्ग।

इसीलिये बापू का कथन था कि "हमने शिक्षण-योजना में धार्मिक शिक्षा को इसलिये स्थान नहीं दिया कि आजकल धर्म जिस तरह सिखाये या अमल में लाये जाते हैं उससे एकता के बजाय झगड़ा ही हो जाता है। किन्तु मेरी राय है कि तथ्य तो सब धर्मों में समान ही है जो हर एक बच्चे को सिखाया जाना चाहिये। इन तथ्यों को बच्चे गुरु के दैनिक जीवन द्वारा ही सीख सकते हैं। यदि शिक्षक स्वयं सत्य और न्याय के आधार पर अपनी जिन्दगी बसर

करते हैं तो बच्चे यह आसानी से सीखेंगे कि सत्य और न्याय सब धर्मों के आधार हैं। सब धर्मों के मूल तत्व एक ही हैं, इसलिये इन में एक दूसरे के धर्म के लिए आदर, श्रद्धा और प्रेम होना चाहिये। इसीलिये बुनियादी पाठशाला में सब धर्मों की प्रार्थनाओं को स्थान दिया जाता है।

४७

अनुशासन

सबसे पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि पाठशालाएँ विद्यार्थियों के लिए हैं न कि केवल परीक्षाओं के लिए। सबसे पहला उद्देश्य जो शिक्षक को ध्यान में रखना है वह है बालक का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक हित। 'रेन' साहब ने लिखा है कि स्कूलों की व्यवस्था बालकों के हित के ही लिए की जानी चाहिये, जिससे उनके गुणों का विकास हो, दृष्टि-कोण का विस्तार हो, मस्तिष्क का शिक्षण हो, चरित्र बलवान हो, बालकों में सुन्दर तथा सदाचार के भाव जागृत हों, शरीर को स्वास्थ्य तथा शक्ति प्राप्त हो, और वे अपने तथा अपने समाज और राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों व उत्तरदायित्व को समझ सके।

पाठशाला केवल ज्ञान को ठूंसने-मात्र का ही स्थान नहीं है। वह अच्छी आदतों के डालने की प्रयोग-शाला है। जिनमें बालक परिश्रमी, आज्ञाकारी, सच्चे, धैर्यवान, लगन वाले, समय पर काम करने वाले बनकर एक उत्तम चरित्र का निर्माण कर स्वस्थ वातावरण का निर्माण करते हैं। जीवन की क्रियाओं को ठीक रूप में समझने की उनमें आदत आ जाती है।

अनुशासन का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ के साथ लोगों ने किया है। कोई समझते हैं कि उसका तात्पर्य शिष्टाचार-पूर्ण शिक्षा-दीक्षा-मात्र से ही है जिसमें केवल विशेष प्रकार के मस्तिष्क के व्यायाम

द्वारा केवल मस्तिष्क का ही विकास हो। दूसरे यह समझते हैं कि यह एक शिक्षण की पद्धति है जो बाह्य डाँट फटकार द्वारा बालकों को चुपचाप रखने की और उन पर अधिकार बनाये रखकर दबा कर पढ़ाने की एक कला है। तीसरी धारणा यह है कि यह एक स्वयं नियन्त्रण द्वारा आत्म-निग्रह का साधन है। चौथा विचार यह बताता है कि स्कूल के सब कार्यों की योजना इस प्रकार की हो जिसके द्वारा बालकों के शरीर और मस्तिष्क का, अच्छी आदतों द्वारा शिक्षा और विकास हो।

इनमे पहिले दो अर्थ बहुत ही संकुचित हैं। तीसरा अनुशासन का यथार्थ तात्पर्य बताता है और चौथा उस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। इसलिये सच्चे अनुशासन की परिभाषा में तीसरे तथा चौथे अर्थ का समावेश है।

अनुशासन का तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा आत्म निग्रह तथा आत्मसंयम के भाव पैदा हों। यह स्कूल की सब क्रियाओं का प्रतिफल होता है जिनके द्वारा बालक का शारीरिक तथा मानसिक शिक्षण तथा विकास होता है। इसका आन्तरिक ध्येय नैतिक ही है। उसका उद्देश्य मनुष्य को उस उच्चकोटि का ज्ञान दिलाना है जो कि उसको प्राप्त करना सम्भव है। मानसिक वृत्तियों को और आदतों को बनाने में प्रत्येक कार्य अपना काम करता है जिनसे चरित्र का निर्माण होता है।

अनुशासन दो प्रकार का होता है। बाह्य तथा आन्तरिक। शिक्षण तब सफल होता है जब बाह्य अनुशासन आन्तरिक रूप ले ले। मनुष्य के लिए नियम बनाये जाते हैं। किन्तु आरम्भ में वे नियम बाहर से ही लादे जाते हैं। जब उनको [illegible] आत्मा स्वीकार कर लेती है और मनुष्य उनके मानने में [illegible] लगता है तब वह स्वतन्त्र है। ऐसी अवस्था में [illegible] की आवश्यकता नहीं है।

अनुशासन में अवस्था का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये। इसमें सदैव छोटी अवस्था वालों में तथा बड़ी अवस्था वालों में भिन्नता रखनी पड़ेगी। बड़े बालक उन छोटे बालकों की प्रारम्भिक अनुशासन की अवस्था को पार कर चुके हैं इसलिये बड़े विद्यार्थियों को उनका शासन उनके स्वयं के हाथ में व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप से दे देना चाहिये। आवश्यकतानुसार सुधार अवश्य ही करते रहना चाहिये। किन्तु वह इस तरह से हो कि इस हस्तक्षेप का पता विद्यार्थी न लगा सकें। बच्चों को यह अनुभव न हो कि वह किसी नियम के बन्धन में रह रहे हैं। वास्तविक अनुशासन जब आजाता है तो नियमों को वहाँ कोई स्थान नहीं रह जाता।

यहाँ कुछ ऐसे सिद्धान्त दिये जाते हैं जिन पर अनुशासन निर्भर है। डाक्टर 'ब्रे' ने अपनी पुस्तक 'स्कूल की व्यवस्था' में उनको दिया है।

(१) स्कूल का वातावरण व स्कूल का नैमित्तिक काम ऐसा होना चाहिये जिसमें बालक आराम का अनुभव करे। अच्छा वायु-संचार, आराम की बैठक, कमरे, आसन तथा काम का बदलाव आदि उसके साधन हैं।

(२) नैतिक सुन्दरता को प्यार किया जाय व प्रोत्साहित किया जाय। अनैतिकता से घृणा की जाय। प्राकृतिक सुन्दर दृश्यों से प्रसन्नता की भावनाओं और नैतिक कल्पनाओं को बलवान बनाया जाय। यह भी आवश्यक है कि दुर्गुणों से उनमें अरुचि भी उत्पन्न हो।

(३) बौद्धिक तथा काल्पनिक गुणों के विकास की भी शिक्षा मिलनी चाहिये। ६ वर्ष की अवस्था के पश्चात् बालक की कल्पनाशील अवस्था चली जाती है। इसलिये समय पर इस अवस्था का उपयोग किया जाय जो जीवन को रंग देने वाला होता है।

(४) पाठशाला का कानून प्राकृतिक नियमों पर ही रहना चाहिए जो बालक को ठीक-ठीक सोच-समझ कर बनाये गये हों।

(५) यद्यपि नियम सामूहिक और सामाजिक जीवन की दृष्टि से बनाये जाते हैं तो भी उनका संचालन इस प्रकार होना चाहिये कि बालक की व्यक्तिगत प्राकृतिक अवस्था तथा स्वभाव के प्रतिकूल न हो। कभी-कभी छोटे से छोटा उलाहना भी कई बच्चों को काफी सुधार सकता है। इसके विपरीत कड़ी से कड़ी चेतावनी भी कई बालकों में किसी भी प्रकार का सुधार नहीं कर पाती। इसलिए शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षक की सहानुभूति ही अनुशासन में बहुत बड़ा साधन है।

अनुशासन की स्थापना में निम्नलिखित बातें भी सहायक होंगी—

(१) बच्चों के कार्यक्रम में उनके अधिक से अधिक प्रसन्नता की योजना होनी चाहिये।

(२) स्कूल और घर के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए जिससे पालकों के सम्बन्ध भी पाठशाला से जुड़ जायें। इसके लिये बालकों की उन्नति तथा प्रगति की रिपोर्ट पालकों के पास भेजते रहना, समय पाकर उनसे मिलते रहना व कभी-कभी बारी-बारी से बालकों के घरेलू जीवन का अध्ययन करने उनके घर जाना अच्छे साधन हैं।

(३) पाठशाला में समय-समय पर 'पालक-दिवस' आदि की योजना करना जिसमें बालकों की कृतियों का प्रदर्शन किया जाय तथा कार्यक्रम में पाठशाला की भिन्न प्रवृत्तियों का समावेश हो। बालक क्या तो अपनी कृतियों का, क्या अपने भावों का प्रदर्शन चाहते हैं इसकी पूर्ति इस प्रकार के उत्सवों के आयोजनों द्वारा हो जाती है। पाठशाला का स्थायी संग्रहालय भी इसमें सहायक होता है जिसमें बालकों की साहित्यिक, कलात्मक कृतियों का प्रदर्शन

होता है तथा प्रिय वस्तुओं का संग्रह होता है और वालकों की प्रगति के मानचित्र आदि रक्षित रहते हैं। वालकों को इतना आनन्द चीजों के प्राप्त करने में नहीं होता है जितना कि उनकी कृतियों के प्रदर्शन में।

(४) वालकों को जो काम घर पर करने को दिया जाय वह समय, योग्यता तथा रुचि को देख कर दिया जाय जिससे वह उनको भार-रूप न हो।

(५) गरीव, नंगे, भूखे, पोषणहीन वालकों को समाज के उदारचित्त व्यक्तियों द्वारा तथा विद्यार्थी-सहायक-सभा की स्थापना द्वारा सहायता का प्रवन्ध किया जाय।

(६) एक अच्छे पुस्तकालय के विना स्कूल वैसा ही है जैसे विना दवा के दवाखाना और विना सामान के भोजनालय। वालकों का व्यक्तिगत अध्ययन कर अलग-अलग वालकों को अलग-अलग पुस्तकों की ओर रुचि का संकेत कराने से वहुत कुछ सुधार हो सकता है। अच्छा हो यदि वालकों की श्रेणी अथवा योग्यतानुसार पुस्तकों की सूची वनाकर लगा दी जाय।

(७) वालचर तथा वालवीरों के दल की स्थापना भी एक वहुत वड़ा साधन है। यदि साधन पर्याप्त हो तो पूरे स्कूल का ही संचालन इस पद्धति पर किया जा सकता है। इसमें वालक स्वस्थ वातावरण में स्वस्थ प्रवृत्तियों द्वारा अपने चरित्र का निर्माण करते हैं व अपने शरीर को वलवान चित्त को चैतन्य तथा चरित्र की पवित्रता के साथ सर्वाङ्गीण उन्नति कर समाज के स्वस्थ, सुखी तथा सहायक अंग वन सकते हैं। दल संचालन की पद्धति द्वारा उनमें जनतन्त्रीय शासन की योग्यता भी आ जाती है। वनविद्या द्वारा प्रकृति से प्रेम उपार्जन में ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं से प्रेम करना आजाता है इसी प्रकार का संगठन, जूनियर रेड क्रास आदि का भी कर लिया जाता है।

(८) स्कूल में सम्मान सूची भी एक अच्छा साधन है जिसमें उत्तम योग्यता प्राप्त बालकों के नाम स्थायी रूप से लिखे जाते हैं।

(९) कक्षा-प्रमुख तथा अन्य कार्यों के लिये बालकों को बारी-बारी से चुनकर जिम्मेदारी देना भी उनके लिये उनके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्व की पूर्ति की एक अच्छी व्यावहारिक शिक्षा है।

(१०) स्कूल अपना एक विशेष सिद्धान्त बनावे। जो एक ऐसे स्थान पर लगा रहे कि बालक स्कूल में प्रवेश करने पर अथवा आते जाते समय कम से कम एक बार अवश्य देख लें।

(११) दस्तकारी आदि ऐसे कामों की योजना की जाय जिसमें बालक संगठित रूप से काम करें और उनमें संगठित रूप से काम करने की योग्यता बढ़े व सामाजिक जीवन के महत्व को वे समझें।

(१२) पाठशाला का मुखपत्र हस्तलिखित अथवा छपा हुआ जैसा हो सके निकाला जाय। इसके द्वारा शिक्षक बालकों तथा पालकों तक अपने विचार पहुँचा सकते हैं। इसके द्वारा बालकों को अपने भाव तथा विचारों को व्यक्त करने का अच्छा अवसर मिलता है।

(१३) पाठशाला के बालकों का सामूहिक प्रवास-यात्रा किसी भौगोलिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक अथवा अन्य किसी सुन्दर स्थान पर जाने से हो सकता है। इसमें पहले पालकों की अनुमति ले लेना अच्छा है।

बालकों को भी इन अवसरों के [illegible] उचित हैं जो एक कापी में लिख लें।

(१) प्रवास का उद्देश्य, (२) [illegible] साथ में ले जाने का सामान, (३) [illegible] दिन का [illegible] (४) [illegible] हिसाब-किताब, (५) [illegible]

(१) इनके द्वारा बालकों, पालकों तथा शिक्षकों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित होंगे, (२) बालकों को निकट सम्पर्क में आकर अध्ययन करने का अवसर मिलेगा, (३) बालकों को भूगोल, इतिहास आदि का प्रत्यक्ष पाठ पढ़ाया जा सकेगा, (४) सामाजिक जीवन का व्यावहारिक अनुभव होगा।

४८

दण्ड और पुरस्कार

दण्ड के सम्बन्ध में संक्षेप में केवल यह कहना पर्याप्त होगा। कठोरता से कठोरता और नम्रता से नम्रता पैदा होती है। [illegible] से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिनमें यथेष्ट सहानुभूति रखी जाती है उनमें सहानुभूति उदय हुए बिना नहीं रहती। [illegible] वस्था में कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने के लिये ही बनाये जाते हैं तथापि बहुत से अपराध केवल उन्हीं नियमों के कारण होते हैं। प्रतिकूल इसके [illegible] और उदार [illegible] विकारों को इतना सौम्य और शान्त कर देते हैं कि दूसरों का अपराध करके दुःख पहुंचाने की उनकी प्रवृत्ति ही बहुत कम हो जाती है।

बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में कठोर दण्ड देने से लाभ [illegible] बल्कि हानि ही है। लोगों का अनुभव है कि जिन बच्चों को इस तरह दण्ड दिया गया है वे बड़े होने पर [illegible] और उनके विपरीत [illegible] पाठशालाओं में शारीरिक दण्ड एक [illegible] है। [illegible] स्कूल की व्यवस्था और शिक्षक दोनों [illegible] शिक्षक का [illegible] है, [illegible] उनसे [illegible] है, उनसे पढ़ाने [illegible] और [illegible]

शाला का वातावरण एक आश्रम की भाँति पवित्र भावनाओं और उच्च आदर्शों के आधार पर है तो शारीरिक दण्ड की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। डॉक्टर हेमले ने 'स्कूल-व्यवस्था' में यह लिखा है कि शारीरिक दण्ड स्कूल की व्यवस्था की कमजोरी का ही द्योतक है। डॉक्टर ब्रे का, स्कूल-व्यवस्था के सम्बन्ध में, कहना है कि वास्तविक अनुशासन इसी में है कि बालकों का शासन बिना कड़ी रुकावटें लगाये हुए चलता रहे। तात्पर्य यह कि जब शिक्षक को दण्ड का आश्रय लेना पड़ता है तब शिक्षक अपने अनुशासन की योग्यता तथा प्रभाव के आदर्श से गिर जाता है। इसलिये हर एक लादा हुआ काम, हर एक लगाई हुई रुकावट, हर एक प्रकार की जांच-पड़ताल उनको स्वतंत्र वातावरण में विकसित होने में बाधक होती है। कड़े नियम जो अपराधों की रोक के लिये बनाये जाते हैं उनसे बालकों की स्वयं प्रवृत्ति नष्ट होती है, उनकी मौलिकता चली जाती है। बालकों को एक सीमा तक अवश्य ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए अन्यथा न तो उसमें प्रवृत्ति के चुनाव की गुंजायश होगी और न उससे इच्छा-शक्ति का विकास ही होगा। "स्वतन्त्रता पाठशाला का जीवन है"। बालकों में सामाजिक उत्तर-दायित्व के भावों को जागृत किया जाना चाहिये जैसा कि बुनियादी पाठशालाओं में मंत्रि-मंडल तथा आम सभा द्वारा किया जाता है।

बालक में कुछ गुप्त शक्तियां भरी रहती हैं। वह उनका प्रदर्शन चाहता है, विकास चाहता है। अच्छी शिक्षा में इनका उपयोग किया जाना चाहिये। इसलिये अच्छे शिक्षक का कर्तव्य होता है कि उनको ऐसी प्रवृत्तियों मे लगाता रहे जिससे उसके व्यक्तित्व का ह्रास न होने पावे। इस प्रकार के विकास के साथ स्वयं ही अनुशासन और संयम आ जाता है।

डॉक्टर ब्रे का कहना है कि यदि स्कूल की व्यवस्था अच्छी है और विद्यार्थियों से शिक्षक का सम्मान है तो अपराध को ठीक करने की यह रीति उत्तम है कि शिक्षक बालक की गलती को उसे सम-

भावे जिससे गलती करने वाला भी सच्चा पश्चाताप करे और उसके साथी भी यह अनुभव करें कि यह एक अपराध था। किन्तु यह इस बात पर निर्भर होगा कि शिक्षक किन शब्दों में यह बात रखता है। इसी पर उसकी सफलता है। यदि वह इस प्रकार रख सका कि उसका स्थायी प्रभाव पड़े और वास्तविक पश्चात्ताप हो तो उद्देश्य सफल हुआ। यदि ऐसा नहीं हुआ तो शिक्षक योग्यता पूर्वक इस पद्धति को उपयोग में न ला सका। लगातार बार-बार इस प्रकार दोष निकालना भी अहितकर है। एकान्त का समझाना ऐसे प्रकरणों में उचित है।

बालक जैसे घर में मा-बाप के प्रेम से बंधे रहते हैं वैसे ही वह प्रेमी शिक्षक के बंधन में रहते हैं। केवल गुरूजी की साधारण सी एका-एक अप्रसन्नता की मुद्रा मात्र ही ऐसी दशा में बालकों को बड़े से बड़ा दण्ड का काम दे जाती है। कभी-कभी बालकों को दल में से हटा कर एकान्त वास में कर देना भी दण्ड का काम देता है। ऐसे समय अच्छा है यदि वह ऐसी जगह रखे जायं जिससे वह दूसरों को काम करते हुए तथा काम का आनन्द लेते हुए देखकर लालायित होते रहें।

किसी काम को सज़ा के रूप में वार वार करने को कहना भी उसमें सुधार नहीं करता वल्कि उसमें वेगार की भावना आती है जो उसमें अनैतिकता उत्पन्न करती है। इसी प्रकार कक्षा में समय के वाद तक रोक देने की पद्धति है। यह भी उसमें पाठशाला के प्रति जेल की कोठरी के भाव उत्पन्न करती है। इसके द्वारा वालक स्वस्थ वायु-मण्डल से भी वंचित रहता है। आर्थिक दण्ड भी ग़रीव वालकों के पालकों पर अत्यन्त भार-रूप होता है तथा अमीरों को उनकी कोई परवाह नहीं रहती है। कभी-कभी वालक इन दण्डों के ही कारण उनकी पूर्ति के लिये घरों में से दाम पैसे चुराना सीखते हैं। पाठशाला से विद्यार्थी को निकाल देना इस वात का परिचायक है कि एक वार जिस वालक को भरती करके शिक्षा देने की ज़िम्मेदारी ली है उसे निभाने में असफलता रही है।

इसलिये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शारीरिक दण्ड-

(१) जो देता है उसे और जिसे दिया जाता है उसे, दोनों को नीचे गिराता है।

(२) नियमानुकूल तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर नहीं है। न यह वालक का मानसिक सुधार करता है, न उसमें पश्चात्ताप की भावना जागृत करता है जो कि दण्ड का उद्देश्य है।

(३) वालक की कोमल भावनाओं को भी प्रभावित नहीं करता। न वह वालक के दोष को उसके स्वयं के विवेक की तराज़ू पर तोलने का अवसर ही देता है।

(४) इसके द्वारा वालक तथा शिक्षक का सम्वन्ध विगड़ जाता है। प्रेम तथा सहानुभूति के वदले द्वेष और घृणा का उदय होता है।

(५) वीरता के उच्च भावों को जागृत नहीं करता, क्योंकि इसका उपयोग कमजोर वालक के प्रति किया जाता है।

(६) इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता, क्योंकि दवी हुई वृत्तियाँ

समय पाकर दुगने 'जोर से काम करती हैं और वह बड़े से बड़े अपराधी सिद्ध हो सकते हैं।

(७) इसके द्वारा बालक की शिक्षक के प्रति श्रद्धा, प्रेम, आदर, विश्वास, पारस्परिक सहानुभूति आदि भाव उठ जाते हैं जिन पर बालक की सफलता तथा शिक्षक की कुशलता निर्भर है।

पुरस्कारों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार लोगों का मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि मानव प्रकृति आखिरकार मानव प्रकृति ही है। इसलिये उसे प्रोत्साहन के लिये पुरस्कार ठीक ही है। दूसरी ओर लोगों का मत है कि शिक्षा के क्षेत्र में मुकाबला या होड़ की भावना नहीं होनी चाहिये। शिक्षा-क्षेत्र तो विकास का क्षेत्र है, वह मुकाबले का दंगल या अखाड़ा नहीं है। इसलिये मुकाबलों के द्वारा पुरस्कार एक रिश्वत तथा प्रलोभन का ही साधन है जो नैतिक स्तर को ऊँचा नहीं उठाते। सदा ऐसा ही नहीं होता है। कभी-कभी यह अच्छी उत्तेजना देते हैं जो प्रशंसा तथा प्रोत्साहन द्वारा बालक को अधिकाधिक लगन तथा उत्साह से उस काम की ओर प्रवृत्त करते हैं। किन्तु पुरस्कार परिश्रम के फलस्वरूप, संख्या में थोड़े, प्राप्त करने में कठिन होने चाहिये।

जिन पुरस्कारों के द्वारा अधिक उद्योग करने की शक्ति तथा लगन बढ़े, और उनकी कीमत ज्यादा हो। वे कभी-कभी दिये जाते हों और उनका प्राप्त करना सरल न हो। वे कठिन परिश्रम का ही फल हों।

किस प्रकार के पुरस्कार हों इस पर विचार करते हुए यह उचित समझा गया है कि जिस दिशा में बालक ने उन्नति की हो उसी प्रकार का पुरस्कार उपयोगी होगा।

उदाहरणार्थ जिस विषय में बालक ने कुशलता दिखाई है उसी से सम्बन्धित पुस्तक तथा सामान। प्रमाण-पत्र भी अच्छा पुरस्कार होता है। उच्च श्रेणी के प्रमाण-पत्र थोड़े ही दिये जाने चाहिये और उनको प्राप्त करना भी कठिन ही होना चाहिये। स्वभावानुकूल

न्यायोचित प्रशंसा बड़े से बड़े पुरस्कार का काम देती है। चतुर तथा परिश्रमी बालकों को छात्रवृत्ति एक अच्छा पुरस्कार है। नवीन पद्धति में बालक को प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी आदि का प्रमाण-पत्र न देते हुए प्रमाण-पत्रों को ही श्रेणी बद्ध करना उपयोगी है। एक निश्चित योग्यता पर एक निश्चित श्रेणी का प्रमाण-पत्र दिया जायगा। इससे बालक उस श्रेणी तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और दूसरे बालकों से मुक़ाबला करने की भावना भी नहीं आती है। छोटे बालक मनोविज्ञान की दृष्टि से दिखावे के बड़े शौकीन होते हैं अतएव ऐसे बालकों के प्रोत्साहन के लिये सामूहिक-रूप में पुरस्कार दिया जाना उचित होता है। आजकल विशेषकर लोग सामूहिक पुरस्कार के पक्ष में हैं। व्यक्तिगत बालकों को पुरस्कार न देते हुए उनकी कक्षा को ही या टोली अथवा दल को ही पुरस्कार दिया जाय। जिससे उनमें निस्वार्थता के भाव जागृत हों।

४६

बालकों के कुछ दोष और उनके निराकरण के उपाय

समय की पाबन्दी न होना

इसके पॉच कारण हो सकते हैं। (१) किसी अनायास कारण से, (२) पालकों की उदासीनता, (३) खेल-तमाशे का प्रलोभन, (४) आदत और (५) काम का भारीपन।

पहला कारण इतना गम्भीर नहीं है। ऐसी दशा में साधारण उलाहना, समझाना या समय की पाबन्दी पर लेख लिखाना या कक्षा का काम, गायन आदि किसी मनोरंजक कार्यक्रम से आरम्भ करना काफी होता है। दूसरी तथा चौथी शक्ल में पालकों को, व्यक्तिगत प्रगति पत्रक द्वारा सूचना देना तथा समझाना उचित है। तीसरी शक्ल में आरम्भ मे तो इस पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिये पर अधिकता होने पर चेतावनी उचित है। पॉचवीं शक्ल में बालकों को उतना ही काम दिया जाय जिसका कि बोझ वे उठा सके।

कक्षा से भाग जाना

खेल से वंचित करना अथवा पाठशाला में अधिक समय तक रोका जाना आदि बालक के दोष को और भी बढ़ा देते हैं। उसका इलाज तो पाठशाला के कार्यक्रम को रोचक बनाना ही है जिसमें बालक काम और आराम दोनों का अनुभव करें।

आलस्य

इसका कारण कभी-कभी स्वास्थ-हीनता भी हो सकता है। इस दशा में काम कम कर दिया जाना चाहिये। उपयोगी तथा रुचिकर काम तथा मनोरंजन के कार्यक्रम बालकों में उत्साह और चेतनता भर देते हैं।

दुर्व्यवहार

इसका कारण घरेलू अशिक्षा, कुसंग, अज्ञान व विचारहीनता हो सकती है। इसका प्रदर्शन अनादर, बुरी भाषा का प्रयोग, सामान को नुकसान पहुँचाना आदि कई प्रकार से हो सकता है। किन्तु शिक्षक का आदर्श तथा सभ्यता का व्यवहार सामाजिक सद्गुणों का पोषक होता है। यदि शिक्षक उनके कार्यक्रमों में निकट रहकर भाग ले और समय-समय पर अपने व्यक्तित्व की छाया उन पर डालता हुआ उनकी त्रुटियों की तरफ संकेत करता जाय तो पर्याप्त सुधार हो सकता है।

उतावलापन

यह संयमहीनता का कारण है। जिसमें स्वयं नियन्त्रण नहीं होता उसी में यह दोष पाया जाता है। ऐसे समय न तो समझाना काम देता है और न दण्ड। इसलिये शिक्षक को चुप रहकर बालक के शांत होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। बालक को एक अलग स्थान में भेज कर चुप रहने को कहा जाय बाद को समझाया जाय। इससे उसे पश्चाताप होता है और बालक में स्थायी सुधार होता है।

झूठ बोलना

इसका कारण डर, स्वार्थपरता, धोखा अथवा कोई विशेष फ़ायदा उठाना हो सकता है।

पहली बात तो है कि शिक्षक को अपने बर्ताव से यह बता देना चाहिए कि वह अपने छात्रों पर पूरा विश्वास करता है। उसे उनमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये बालकों को सच्ची-सच्ची बात बता देनी चाहिये जिस पर उनको दंड नहीं दिया जायगा। भरोसे से भरोसा बढ़ता है। कभी-कभी बर्ताव की सख्ती भी अकारण इसका कारण बन जाती है किसी चीज़ के बयान करने में तूल देने की आदत को शुरू से ही कम करना चाहिये।

नकल करना

इसका कारण या तो बालक को विषय का ठीक ठीक न समझाया जाना हो सकता है या बालक की लापरवाही और सुस्ती। यह अवगुण बहुत बुरा है। इसका परिणाम ठीक-ठीक समझाना चाहिये। बैठक का ही प्रबन्ध ऐसा किया जाय जिससे नकल करने का लालच ही न हो। बहुत ज्यादा कड़ी देख-भाल व सन्देह भी विश्वास का घातक है इससे जब जरा भी जाच पड़ताल के कड़ेपन में ढीलापन आया तो नकल करने की उत्सुकता बढ़ती है। कक्षा का नैतिक स्तर ऊंचा रहे और भरोसे तथा विश्वास का परस्पर वायुमंडल बना रहे तो इस दोष को कम स्थान रह जाता है।

ज़िद

कभी-कभी शिक्षक के कड़े बर्ताव से ही इसका उदय होता है, जिससे बालक के सम्मान को ठेस पहुँचे, या कभी शिक्षक ही अपनी मनमानी करना चाहे या कभी इसलिये कि बालक ज़िद करते-करते ही अपने उद्देश्य में कामयाब हो जाय। इसका इलाज धीरे-धीरे ही किया जाना चाहिए उतावले पन से नहीं, जिससे गलती करने वाले के साथ और भी विरोध बढ़ जाय। उसका थोड़े समय के लिए कक्षा

से प्रथक्करण कर देना ठीक है। इससे उसमें लज्जा और पश्चात्ताप के भाव जाग्रत हों।

चुगली खाना

इसका सब से अच्छा इलाज यह है कि दूसरे के प्रति की गई बुराई को सुना ही न जाय और न प्रोत्साहित किया जाय।

५०

परीक्षाएं

हमारे देश की आजकल की प्रचलित परीक्षा-प्रणाली शिक्षा के लिए अभिशाप है। शिक्षा की इस बुरी प्रणाली को, इन परीक्षाओं ने और भी अधिक खराब बना दिया है। पाठशाला की उन्नति अथवा विद्यार्थियों की व्यक्तिगत जांच का यह सही-सही कांटा नहीं है। वे नियमानुकूल नहीं हैं और ना काफी हैं और विश्वास करने योग्य नहीं हैं। वे केवल जुआ मात्र हैं, जिनको बालक कभी-कभी किस्मत का खेल समझते हैं। जिनके लिये बालक लगातार साल भर पूरे समय प्रयत्नशील नहीं रहते, बल्कि परीक्षा के समीप काल में ही विशेष प्रयत्न करते हैं जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

परीक्षा में अंकों के आधार पर बालकों को उत्तीर्ण करने की पद्धति केवल यांत्रिक है। इस सम्बन्ध में लोगों का मत है कि जो बालक असफल हो जाते हैं उन पर इसका बुरा नैतिक प्रभाव पड़ता है। उनको उसी वर्ग में रहकर अपने से छोटे बालकों के साथ अध्ययन करना पड़ता है। ऐसे अनुत्तीर्ण बालक न केवल असफलता के कारण पीछे रह जाते हैं बल्कि वे अपने सम्पर्क से छोटे बालकों का भी वातावरण बिगाड़ सकते हैं। रोके गये बालकों तथा उत्तीर्ण होकर आये हुए बालकों की मनोभावना में बड़ा अन्तर होता है। नवीन आये हुए बालक उत्साह व उमंग से भरे होंगे और नये वर्ग

के काम में लगन व उत्सुकता रखेंगे। उन्हीं के साथ के अनुत्तीर्ण बालक उसी काम से, जिसे वह साल भर से करते आये हैं, उदासीन रहेंगे।

कभी-कभी यह सुझाव भी रखा जाता है कि वर्गीकरण परीक्षाओं के आधार पर न करते हुए अवस्था के आधार पर कर दिया जाना चाहिये। इससे यह तो अवश्य होगा कि पिछड़े हुए तथा असफल बालक आगे खींच लिये जायंगे और ऊपर बताये गये दोनों दोषों की रक्षा की जा सकेगी। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या यह उचित होगा कि जो बालक उचित परिश्रम तथा अध्ययन नहीं करता उसे अनुचित प्रोत्साहन दिया जाय। इस समस्या का हल यह हो सकता है कि एक वर्ग के उप विभाग कर दिये जांय जिसमें छोटे व नये आये हुए बालक तथा बड़े व अनुत्तीर्ण बालक अलग-अलग रह सकें। किन्तु ऐसा करने में अधिक शिक्षकों की और उसी के अनुसार आर्थिक व्यय की आवश्यकता होगी। इसलिए परीक्षाओं के सम्बन्ध में नवीन पद्धतियों की आयश्यकता है जो इन दोषों से मुक्त हों।

ज़ाकिरहुसैन कमेटी ने यह तजवीज़ रखी है कि परीक्षाओं के सम्वन्ध में स्कूल के काम की शासकीय जाँच-पड़ताल रखी जाय। जिसमें बालकों के एक चुने हुए ग्रूप की नमूने की जांच की जाकर उसकी सही-सही प्राप्त की हुइ योग्यता का अनुमान लगाया जा सके। जहां तक सभव हो उसमें पाठ्यक्रम के सभी विषयों का सब ओर से समावेश हो। इसके द्वारा स्कूल की शिक्षण-पद्धति की उन्नति होगी। इस जांच-पड़ताल का काम शिक्षा-समिति के निरीक्षकों तथा पाठ्यक्रम बनाने वाले विशेषज्ञों द्वारा होना चाहिये।

एक कक्षा से दूसरी कक्षा में उत्तीर्ण किये जाने का निर्णय पढ़ाने वाले शिक्षकों द्वारा ही विद्यार्थी के रेकार्ड के आधार पर होना चाहिये। निरीक्षक प्रत्येक कक्षा की उचित योग्यता की अवश्य ठीक-ठीक देखभाल करेंगे। यदि किसी कक्षा में अधिक विद्यार्थी

असफल होते है तो शिक्षक के काम को देखने की आवश्यकता है, और यदि सारे स्कूल में ही असफल बालकों की संख्या अधिक है तो पाठशाला के शासन पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है। यदि पूरे क्षेत्र में स्कूलों में असफल बालकों की संख्या अधिक है तो पाठ्य-क्रम को ही दुहराये जाने की आवश्यकता है।

अच्छा हो कि समय समय पर पढ़ाने वाले शिक्षक स्वयं ही बालकों की योग्यता की जाँच, नियत योग्यता की तुलनात्मक दृष्टि से करते रहा करें और अपने इस रेकार्ड के आधार पर बालकों को उत्तीर्ण करते रहें। इसमें बालकों को यह अनुभव नहीं होगा कि एक विशेष प्रकार से विशिष्ट समय पर परीक्षा ली जा रही है। सचेत शिक्षक प्रतिदिन प्रत्येक बालक की परीक्षा लेते ही रहते हैं। परीक्षा का सच्चा उद्देश्य बालकों में उस श्रेणी की निश्चित योग्यता के आजाने की जाँच से है जो शिक्षा के क्रमिक विकास में क्रमानुसार चलती रहनी चाहिए।

५१

बुनियादी तालीम का रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान

नई तालीम यद्यपि रचनात्मक कार्यक्रमों में से एक है तो भी गहरा चिन्तन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बुनियादी तालीम से ही विशेष रचनात्मक कार्यक्रम बंधे हैं। "एकहि साधे सब सधे" के अनुसार यदि नई तालीम को ही पकड़ लिया गया तो अन्य कार्यक्रम इसमें इस प्रकार समाविष्ट हो जायँगे जैसे कि एक चुम्बक से लोहे के कई छोटे-छोटे टुकड़े जन्जीर की तरह लटक जाते हैं। इसलिए नई तालीम में दूसरे कार्यक्रमों को खींच लेने की चुम्बक के समान अलक्ष्य शक्ति है।

स्वर्गीय सरोजनी नायडू के शब्दों मे कि "स्वराज्य मिलने से स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त नहीं हुआ बल्कि स्वराज्य के लिए सच्चा युद्ध शुरू हुआ है' सत्य है। वह है इन रचनात्मक कार्यक्रमों के सत्य और अहिंसात्मक साधनों द्वारा सच्चे स्वराज्य की स्थापना कर स्वस्थ और सुखी राष्ट्र की स्थापना करना। इस संग्राम में सफलता पाये बिना सच्चे स्वराज्य या रामराज्य की कल्पना ही निर्मूल है। इसीलिए पूज्य बापू का अन्तिम सन्देश था कि कांग्रेस के लोग अब केवल अधिकारों के चक्कर में न पड़कर उसे समाज-सेवा तथा रचनात्मक कार्यक्रमों मे भाग लेने वाली संस्था बना लें।

इस सब रचनात्मक कार्यक्रम का नाम प्रत्येक सुधारक तथा वक्ता के भाषणों में सुनते रहते हैं। किन्तु डर यह है कि कहीं थोड़े

दिनों में केवल यही एक नाम ही हमारे हाथ न रह जाय और कार्यक्रमों की सूची हमारी स्मृति से ही चली जाय। अतएव हम उन रचनात्मक कार्यक्रमों को एक-एक को लेकर विचार करेंगे कि बुनियादी तालीम का सम्बन्ध उनसे कहाँ तक जुड़ सकता है। यदि बुनियादी तालीम राष्ट्रीय शिक्षा की अनिवार्य योजना होने जा रही है तो यह कार्यक्रम भी इसके अंगीभूत हो जायगे। रचनात्मक कार्यक्रम यह है।

जातीय एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-सुधार, ग्राम-सफाई, आरोग्य के नियमों की शिक्षा, बड़ों की तालीम, स्त्रियों की तालीम, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय भाषा, आर्थिक समानता, मद्य-निषेध, मजदूर और किसानों की समस्यायें।

यहाँ पर एक-एक को लेकर वह विचार किया जायगा कि नई तालीम इन कार्यक्रमों को अपनी परिधि में कहाँ तक घेर सकती है।

हम पहले खादी को लेते हैं। यह भारतवर्ष की एकता और समानता की प्रतीक है। इसके अतिरिक्त खादी वृत्ति का एक विशेष अर्थ है। जीवन के लिए जरूरी चीजों की उत्पत्ति और उनके बट-वारे का विकेन्द्रीकरण। जिससे केन्द्रित उद्योगों द्वारा शहर, ग्रामों का शोषण न करें। यदि खादी को केवल कांग्रेस की पोशाक, या सरलता का बाना मात्र ही मानकर उसको अपनाया गया और यह भावनाएँ न रहीं तो इस प्रकार की खादी शरीर पर ढीली बैठेगी और शोभा न देगी। बापू ने कहा है कि खादी का महत्त्व है देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतन्त्रता तथा समानता का आरम्भ। किन्तु इसकी पहचान असल करने से ही हो सकती है। नई तालीम में कताई के मूल उद्योग को शिक्षा का साधन बना कर उसे प्रमुख स्थान दिया गया है। इसी प्रकार अन्य ग्रामोद्योग भी हैं जिनका समावेश मूलोद्योग की तरह बुनियादी शिक्षा मे किया जा सकता है और जो नई तालीम की शिक्षा के अंग होकर रचनात्मक कार्य-क्रम की सूची मे भी है।

बुनियादी शिक्षा की योजना में इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया है कि भारत एक खेतिहर ग्रामों का देश है तथा भारत की सच्ची सभ्यता और संस्कृति ग्रामों में ही है इसीलिए इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठ्य विषयों में तथा पाठ्यक्रम में ग्रामों की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाय। विशेषकर यह योजना ग्रामों की आवश्यकता को ही ध्यान में रखकर बनाई गई है क्योंकि भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में ही है। सफाई तथा स्वास्थ्य रक्षा बालकों के सामान्य विज्ञान और समाज विज्ञान के अंग हैं और सामूहिक ग्राम-सफाई उनकी समाज सेवा के कार्यक्रम में से हैं।

सामाजिक शिक्षा तथा निरक्षरता निवारण यद्यपि ग्राम-सुधार के ही अंग हैं, तो भी कार्यक्रम में प्रथक स्थान दिया गया है। नई तालीम में दस्तकारी को शिक्षा का साधन बनाकर उसके द्वारा प्रकृति और समाज के सम्बन्ध को जोड़ा गया है। इससे बालक कच्चे सामान को प्रकृति से लेकर दस्तकारी द्वारा समाजोपयोगी रूप देकर समाज से सम्बन्ध जोड़ता है और समाज के निकट सम्पर्क में आता है। अपने पालकों के उद्योग धन्धों की जानकारी प्राप्त करता है। इस तरह बालकों और पालकों का घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसीलिए बुनियादी पाठशाला को सम्पूर्ण ग्राम की शिक्षा का केन्द्र मानते हैं जिनमें बालकों द्वारा पाठशाला को यानी शिक्षा को उनके पालकों तक पहुँचाया जाता है। एक अच्छा सफल बुनियादी शिक्षक पूरे गाँव का नेता और शिक्षक होता है और इस तरह उसे न केवल साक्षरता प्रसार का वरन पूरी सामाजिक शिक्षा का अवसर प्राप्त है। किन्तु आवश्यकता है लगन रखने वाले शिक्षकों की। क्यों न देश-सेवा की भावना रखने वाले सज्जन इस ओर अपना कदम बढ़ावें।

प्रांतीय भाषा तथा राष्ट्र-भाषा के कार्य की ओर भी इस योजना का ध्यान है। इस योजना के मूल सिद्धान्तों में से यह है कि शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होगी तथा राष्ट्रभाषा भी सीखनी पड़ेगी।

मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने से अल्प परिश्रम में ही ज्ञान मानसिक संस्थान का अंग बन जाता है और स्वतन्त्रता से अपने भावों को अव्यक्त किया जाता है। इसलिये मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम रखा गया है। अन्तर्प्रान्तीय कार्यों में एकता तथा सुविधा की दृष्टि से राष्ट्रभाषा को भी उचित मान दिया गया है।

आर्थिक और सामाजिक समानता की दृष्टि से भी शिक्षा को रंग, रूप, वर्ण आदि ऊँच-नीच के भेद-भाव से मुक्त रखा है तथा उद्योग द्वारा शिक्षा को स्वावलम्बी बनाकर निःशुल्क बनाने की योजना है। इससे शिक्षा का लाभ गरीब तथा धनवान समानता से उठा सकें और समाज में समानता और न्याय की स्थापना हो। इसी दस्तकारी ने इस भेद-भाव को नष्ट करने में दुधारी तलवार-सा काम किया है। इधर जो श्रमजीवी और बुद्धिजीवी की ग्रन्थि बढ़ रही थी उसमें श्रम के महत्व को समझाकर श्रमिक जीवन में सम्मान उत्पन्न कर दिया है। प्रार्थना सभा में सब धर्मों की प्रार्थना को स्थान देकर एक ईश्वर और मनुष्य की समानता की ओर संकेत किया गया है जिसमें अपने-अपने धर्म को स्वतन्त्रता से पालन कर दूसरे धर्मों का भी समादर किया जा सकता है। धार्मिक भेद-भाव ही तो जातीय-भेद के पोषक हैं। ग्रामोद्योग तथा दस्तकारी की शिक्षा धन के विकेन्द्रीकरण तथा आर्थिक समानता की ओर लक्ष करती है। इस प्रकार आर्थिक तथा सामाजिक समानता द्वारा जातीय एकता और अस्पृश्यता-निवारण शिक्षा के अंग हैं।

किसान और मजदूर का प्रश्न यद्यपि कार्यक्रम में पृथक है तो भी योजना के अन्तर्गत श्रम के महत्व और श्रम करने वाले के प्रति सम्मान से उसका बहुत कुछ हल हो जाता है। वर्धा-योजना ने तो शारीरिक श्रम तथा कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं को ही मानसिक और बौद्धिक विकास का साधन माना है। इसलिये यदि मजदूरी का काम भी समझदारी के साथ किया जाय तो शिक्षा का साधन हो सकता है। शिक्षा की योजना ही आज की आवश्यक-

ताओं और ग्रामीणों अथवा कृषकों को ध्यान में रखकर बनाई गई है और इसी उद्देश्य से खेती को भी प्रमुख उद्योगों में रखा गया है जो हमारी परम्परागत सांस्कृतिक प्रवृत्ति है। अतएव किसान और मजदूरों की समस्याएँ भी इस योजना से अछूती नहीं है।

मद्य-निषेध का प्रश्न भी अन्य सामाजिक कुरीतियों के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु मद्य-निषेध और नई तालीम से तो बहुत ही बड़ा सम्बन्ध है। जब बापू के सामने शिक्षा को अनिवार्य करने का प्रश्न था तो विदेशी शासन-सत्ता में वह शराबखोरी के कर के साथ जुड़ा हुआ था। शराब को आमदनी से ही शिक्षा चल सकती थी। तात्पर्य यह था कि एक तरफ पालकों को शराब पिलाई जाय व दूसरी तरफ बालकों को शिक्षा दी जाय। बापू ने बालकों को निरक्षर रखना पसन्द किया बनिस्वत इसके कि शराबखोरी से कर इकट्ठा किया जाय। इसी प्रकार जब ताड़ी को बन्द किये जाने का आन्दोलन जारी किया तो ताड़ी की आमदनी के नुक्सान के कारण उन लोगों को खटका हुआ जिनकी आजीविका ही इस पर निर्भर थी। खोज की जाने पर विष को अमृत में परिवर्तित किया गया। खजूर और ताड़ के रस से, जिससे ताड़ी बनती है, स्वास्थ्यप्रद पेय नीरा के रूप में लाभ उठाया जाने लगा और नीरा द्वारा मधुर सुस्वादु गुड़ भी बनाया जाने लगा, जिससे आमदनी की कमी पूरी की जाने लगी।

अब भी हजारों की तादाद में ताड़ और खजूर के वृक्ष बिखरे पड़े हैं जो धरती माता में से शकर को चूस चूस कर सिर पर नीरा के रूप में इकट्ठा रखते हैं। किन्तु चाहियें इस शकर से लाभ उठाने वाले। इस तरफ लोगों का ध्यान न जाने से सहस्रों टन गुड़ तथा शकर प्रति वर्ष वृथा जाती है। दूसरी ओर शकर की आवश्यकता की दृष्टि से अधिक से अधिक जमीन में गन्ने की खेती करनी पड़ती है। गन्ना पृथ्वी का अधिकांश खींच लेता है और प्रति वर्ष पृथ्वी की उत्पादन शक्ति को कमज़ोर करता जाता है। इस

प्रकार पृथ्वी की उत्पादन शक्ति भी कम होती जाती है तथा अन्य अनाज की फसलों को उपजाने को जमीन की भी कमी होती जाती है। यदि इन ताड़ तथा खजूरों की तरफ लोगो का ध्यान जाय तो कई समस्याओं का निराकरण हो सकता है। नई तालीम मे नीरा से गुड़ बनाने की ओर भी ध्यान दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नई तालीम की परिधि किसी न किसी प्रकार प्रत्येक रचनात्मक कार्य-क्रम के अंग को छूती हुई है।

———

५२

हमारा जनतन्त्रीय विधान और नई तालीम

भारत के इतिहास में एक स्वर्णिमा काल था जबकि भारत सभ्यता के एक उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। अन्य देशों के लोग मध्यकाल के अन्धकार में ही पड़े यहाँ की सभ्यता के लिये लालायित थे। उस काल की प्रजा अत्यन्त सुखी तथा धन-धान्य-सम्पन्न थी। राज्य करने वाले प्रजा द्वारा चुने जाते थे और उनको सलाह देने के लिये जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि रहते थे। सारे देश में 'जन' पद और 'लोक-सभाओं' का जाल सा बिछा हुआ था। भारत का प्रत्येक नगर और ग्राम एक छोटा सा जनतन्त्र था। उस काल में राज्य करने वाले अपने आपको जनता का सबसे बड़ा सेवक समझते थे। जनता के सम्मुख वह एक आदर्श चरित्र का उदाहरण रखते थे। उनका, स्वयं का जीवन अत्यन्त संयमी, सादा और निर्मल होता था। ऐसे शासन करने वालों पर जनता भी अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर रहती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चुने हुए शासकों की प्रणाली, धारा-सभाओं का निर्माण उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन का संगठन, हमारे देश के लिए कोई नई बात नहीं है। यह तो हमारी अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। नये विधान के अन्तर्गत हमारे देश को प्राचीन तथा नवीन संस्कृति के संयोग से एक ऐसे आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया गया है जिसके कारण हमारा देश सच्चा प्रजातन्त्रवादी कहा जा सके।

किन्तु इस प्रजातन्त्र की प्रणाली में यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय। अशिक्षा का इतना प्रभाव किसी भी शासन-प्रणाली पर नहीं पड़ता जितना कि प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली पर पड़ता है। इसमे प्रत्येक शासक हो सकता है और प्रत्येक शासित है। शासन भी शासकों की तथा शासक चुनने वालों की योग्यता पर ही निर्भर है। चुने हुए प्रतिनिधि कहीं आसमान से उतरने वाले देवता नहीं हुआ करते हैं। वे भी तो उस समय के समाज के ही प्रतिबिम्ब हैं। इस लिए समाज का स्तर जितना ऊंचा होगा उतने ही ऊंचे आदर्श चरित्र तथा सभ्यता और संस्कृति वाले प्रतिनिधि भी होंगे। उन्हीं की योग्यता के अनुसार राष्ट्र का निर्माण होगा।

इसीलिए बुनियादी शिक्षा की योजना में इस बात पर विचार किया गया है कि एक निश्चित आवश्यक परिमाण में राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को इस योजना द्वारा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय। उनका पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम के विषयों पर दृष्टिपात करने से भी यह स्पष्ट होगा कि उनकी शिक्षा के साथ समाज का प्रत्येक सदस्य समाज का एक कामकाजी तथा क्रियाशील अंग बन सकता है जो समाज के सचालन मे समझदारी से काम ले सके। शासन की जन-तन्त्रात्मक प्रणाली को ही ध्यान में रखते हुए तो पाठशाला के कार्य-क्रम में सामाजिक जीवन के सगठन पर जोर दिया गया है। पाठ-शाला का कार्यक्रम भी चुने हुए मन्त्रियों के मन्त्रिमण्डल द्वारा संचा-लित होता है। कार्य व्यवस्था बालकों की बाल-सभा अथवा ग्राम सभा द्वारा होती है। इसमें बालकों को अपने अधिकार तथा उत्तर-दायित्व का व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है वे लोक-सभाओं तथा शासन मण्डलों के अच्छे संचालक तथा शिष्ट वक्ता हो जाते हैं। अभ्यास द्वारा पूर्ण शिष्टाचार और सभ्यता के साथ अपने विचारों तथा माँगों का प्रदर्शन कर सकते हैं और लोगों को सही बात की तरफ झुका सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की योजना

प्रजातन्त्र की शिक्षा नहीं तो और हो भी क्या सकती है। व्यावहारिक अभ्यास द्वारा जब तक प्रजातन्त्र के नियम आदतों के अंग नहीं बन जाते तब तक सच्चे प्रजातन्त्र के साम्राज्य की कल्पना निर्मूल है। इसलिए बुनियादी शिक्षा की यह प्रणाली हमारे देश के प्रजातन्त्रीय विधान के सिद्धान्तों के अनुकूल है।

प्रजातन्त्र के वास्तविक अर्थ पर विचार करके यह कहा जा सकता है कि हम प्रजातन्त्रवादी देश उसको नहीं कह सकते जिसमें केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त हो। प्रजातन्त्रवाद का सही अर्थ एक ऐसे समाज की रचना है, जहाँ ऊंच-नीच का भेद भाव न हो, सब व्यक्ति समान समझे जाते हों, उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान सुविधाएँ मिली हों, जहाँ राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को आवश्यक रोजी का प्रबन्ध हो, जहाँ अधिक आर्थिक असमानता न हो तथा जहाँ न्याय और प्रेम के आधार पर शासन का संचालन होता हो। संक्षेप में जनता को राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक तथा नैतिक अधिकार भी पूर्ण रूप से प्राप्त हों। इसीलिए हमारे विधान में न्याय, बन्धुत्व, समानता तथा स्वतन्त्रता मूल सिद्धान्त माने गये हैं।

अब हमें देखना यह है कि हमारी इस प्रणाली में इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए शिक्षा का कहाँ तक समावेश है क्योंकि जिस देश की रचना जिस प्रकार की जाना है उसी प्रकार का आधार शिक्षा का भी होना चाहिए।

इस योजना में पहली बात अनिवार्य शिक्षा की है, जिसमें समाज के प्रत्येक सदस्य को एक निश्चित परिमाण में शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जायगी और वह निःशुल्क होगी। शिक्षा की योजना में इन विचारों का समावेश करने का बापू का तात्पर्य यह था कि जैसे प्रकृति की देन, हवा और पानी का उपयोग समानता से सब प्राणी कर सकते हैं उसी प्रकार शिक्षा का भी उपयोग सब समानता से कर सकें और इसका प्रबन्ध करना राष्ट्र का कर्तव्य है।

ऐसा न होने से शिक्षा कुछ इने-गिने धनिकों के ही अधिकार में रह जाती है और जन-साधारण उसका लाभ नहीं उठा सकते हैं। इस प्रकार समाज में पढ़े-लिखे तथा निरक्षरों का भेद-भाव रह कर असमानता बनी रहती है और यह सामाजिक अन्याय है।

यह कार्य बड़े-बड़े कर (टैक्स) लगाकर भी किया जा सकता था किन्तु भारतवर्ष जैसे निर्धन देश की समस्या को देखकर यही उचित समझा गया कि जनता पर इसका भार न डालते हुए एक ऐसा मार्ग निकाला जाय जिसमे सब बालक ही मिलकर ऊंच-नीच, बड़े छोटे के भेद-भाव का मिटाकर समानता से अपनी शिक्षा के आर्थिक भार को उठा सकें। अपने मूलोद्योग द्वारा कम से कम अपने शिक्षक का वेतन निकाल सकें। ऐसा होना हमारी परम्परा-गत सभ्यता तथा संस्कृति के अनुकूल भी है। इसके द्वारा गुरु-सेवा के भाव की जागृति होगी और वे यह अनुभव करेंगे कि ये भी समाज के काम में हिस्सेदार हैं और राष्ट्र-सेवा के भागी बन रहे हैं। इसी उद्देश्य से "बुनियादी शिक्षा" में स्वावलम्बन की शिक्षा तथा "उत्तर बुनियादी" में "स्वावलम्बन द्वारा शिक्षा" का सिद्धान्त रखा गया है। बुनियादी शिक्षा में ६ वर्ष से १४ वर्ष तक का बालक उद्योग की क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करने का अभ्यास करता है तथा इसके पश्चात् उत्तर बुनियादी की श्रेणी में इस अर्जित अभ्यास द्वारा अपनी स्वावलम्बी शिक्षा के आधार पर बालक खर्च निकाल कर उच्च शिक्षा की व्यवस्था करता रहता है जहाँ कि शिक्षा आजकल बहुव्ययसाध्य होती है और बालकों पर एक अत्यन्त भारी बोझ होने के कारण कई होनहार बालक इससे वंचित रहते हैं। अतएव इस शिक्षा-पद्धति द्वारा कृष्ण और सुदामा के समान सब एक साथ शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यह सामाजिक न्याय के स्थापन की पहली सीढ़ी है।

इधर दूसरी तरफ समाज में पूंजीवाद का ताण्डव नृत्य चल

रहा है जहां केन्द्रित उद्योगों द्वारा धन का एक ओर तो केन्द्री-करण हो रहा है और दूसरी ओर जनता के एक अंग को सुबह व शाम का भोजन भी मिलना कठिन हो रहा है। यह मिट नहीं सकता है जब तक कि धन का विकेन्द्रीकरण न हो। धन का विकेन्द्रीकरण इन बड़े बड़े कारखानों से नहीं हो सकता। यह तो हमेशा एक ही स्थान पर केन्द्रीकरण करने के जरिये बने रहे हैं। विकेन्द्रीकरण का एकमात्र सिद्धान्त तो दस्तकारी, कला-कौशल, गृह-उद्योग तथा ग्रामोद्योगों का प्रोत्साहन है, जिसमें समाज का प्रत्येक अंग स्वतन्त्रता से भाग लेकर परावलम्वी न रहेगा। इसी विचार से बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी को शिक्षा का माध्यम बनाकर प्रमुख स्थान दिया गया है। इस प्रकार बालकों में कम से कम परावलम्बन तथा अधिक से अधिक स्वावलम्बन के अभ्यास द्वारा उनको स्वाश्रयी बनाने का पाठ पढ़ाया जाता है। दस्तकारी, गृह व ग्रामोद्योगों में परस्पर सहयोग तथा सहकारिता की काफी गुंजायश है जो सामाजिक जीवन के संगठन के नियम हैं। इस प्रकार विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा भी जनता में समानता की भावना की सम्भावना है।

दूसरे पहलू से भी मध्ययुग में शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास ही होने से बालक व्यावहारिक ज्ञान से शून्य रहे। उनकी एक ही ओर उन्नति होकर उनका संतुलित सर्वाङ्गीण विकास भी न हो सका। दूसरी ओर एक और भी बड़ा अभिशाप हो गया कि शारीरिक श्रम करने वाले और केवल बुद्धि से काम करने वाले दो श्रेणियों में विभक्त हो गये। इनमें भेद-भाव की गहरी जड़ पड़ गई जिसने सामाजिक समानता को नष्ट करके प्रेम और बंधुत्व की भावना को छिन्न-भिन्न करके समाज-संगठन का खण्डन कर दिया और समाज में भेद-भाव के फलस्वरूप अनेकानेक वर्ग, वर्ण और श्रेणियाँ बन गईं। एक ही समाज के अंग होने पर भी खण्ड-खण्ड होकर रहने के कारण समाज में भिन्नता का अनुभव होने

लगा। किन्तु बुनियादी शिक्षा में उद्योग, दस्तकारी, और शारीरिक श्रम को प्रमुख स्थान देकर उसे शिक्षा का केवल पूरक अंग ही नहीं बनाया अपितु उसे शिक्षा का साधन और वाहन बनाकर शिक्षा का प्रमुख अंग बना दिया। जिससे बौद्धिक शिक्षा तथा शारीरिक शिक्षा बालक की शिक्षा के, समानता से, अङ्ग बने रहें और बालकों में श्रम का महत्त्व तथा श्रम करने वालों के प्रति सम्मान पैदा हो जिससे यह समाज का भेद-भाव समाप्त होकर समाज में समानता स्थापित हो और समाज का संगठन दृढ़ हो इसीलिये भेद-भाव रहित समाज के निर्माण में शारीरिक श्रम को शिक्षा का अङ्ग बनाया गया है।

शिक्षा-पद्धति पर दृष्टि डालते हुए भी बुनियादी शिक्षा का सिद्धान्त "जीवन की क्रियाओं द्वारा जीवन के लिये शिक्षा" है और स्वयं के निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग तथा अनुभव के आधार पर "करो और सीखो" मूलमन्त्र है। यह मनुष्य जाति की शिक्षा का नैसर्गिक क्रम रहा है। इसमें यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक बालक ज्ञान से परिपूर्ण है; केवल उसकी चेतना को जागृत कर उसकी सुषुप्त शक्तियों का विकास करना शिक्षा का काम है। शिक्षक केवल एक मार्ग-दर्शक रूप में साथी है और बालक स्वयं अपनी शिक्षा ग्रहण कर ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करने में स्वतन्त्र है। बालक का स्वयं का व्यक्तित्त्व है और वह सन्मान का पात्र है। इसलिये इस प्रणाली में दण्ड आदि का विधान नहीं है। बालक स्वतन्त्रता से अपना चतुर्मुखी विकास कर सकता है।

शिक्षा में समवाय तथा समन्वय की पद्धति द्वारा ज्ञान को जाति. वर्ग और वर्णों के भेद की भांति अलग-अलग कोष्टकों में बन्द न करते हुए अखण्ड रूप मे ही लिया जाता है जिससे ज्ञान में भी

विकास का स्वाभाविक क्रम बढ़ता है, सर्वाङ्गीण विकास होता है और जीवन में भी एकता तथा एकग्रता बढ़ती है।

इस प्रकार इस संक्षिप्त रूप-रेखा के साथ हमने देखा कि हमारे प्रजा-तन्त्रीय विधान के सिद्धांत न्याय, बन्धुत्त्व, समानता और स्वतन्त्रता के अनुरूप ही हमारी बुनियादी शिक्षा की योजना है।

५३

ग्राम-सुधार और बुनियादी शिक्षा

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इसके प्राय: ८० प्रतिशत निवासियों का जीवन ग्रामों से सम्बन्धित है। हमारे पूर्वज आर्यों ने भी कृषि-कार्य में निपुण होने के कारण प्रथम उपनिवेश ग्राम ही बनाये। इन्हीं ग्रामों में भारतीय सभ्यता का उदय हुआ है। ग्राम नगरों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। ग्रामों में ही दीर्घ काल तक सभ्यता तथा संस्कृति रक्षित रह सकी है। अतएव यह ध्रुव सत्य है कि अलकापुरी की स्पर्धा करने वाले मणि-माणिक्य-मंडित महलों की महिमा और गरिमा झोंपड़ियों की ही आधार-शिला पर स्थित है। ग्राम ही सच्चे देव-मन्दिर हैं। ग्रामों की गौरव-महिमा के कितने ही गीत क्यों न गाये जाय किन्तु उनकी आजकल की दशा इतनी शोचनीय है कि कोई भी क्या स्पर्धा की इच्छा रखे। ग्रामवासी दरिद्रता दानव के चंगुल में पड़कर अस्थिपंजरावशेष होते जा रहे हैं। अतएव यदि हमको अपनी संस्कृति और सभ्यता को अक्षुण्ण रखना है देश को सुख सम्पन्न समृद्धिशाली बनाना है तो इस ओर भागीरथ प्रयत्न करना होगा और अपनी शिक्षा की रूप रेखा भी इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर बनानी होगी।

अब हम देखेंगे कि बुनियादी शिक्षा ग्राम-सुधार तथा उनके पुन: निर्माण में कैसे योग देती है। सबसे पहले आर्थिक प्रश्न की दृष्टि से उत्पादन में विकेन्द्रीकरण का स्थान आता है। केन्द्रित उद्योग

बड़े-बड़े कारखानों द्वारा धन का चारों ओर से शोषण कर एक ही स्थान पर केन्द्रित करते हैं। ग्रामोद्योग और गृह-उद्योग विकेन्द्रीकरण की योजना में उत्तम तथा सुलभ साधन हैं जिसके द्वारा यह विषमता उत्पन्न नहीं होने पाती है।

यदि हम अपने प्राचीन आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन की ओर दृष्टि डालें तो भी विकेन्द्रीकरण ही हमारी परम्परागत नीति रही है। चूँकि भारत कृषि-प्रधान देश है इसलिए उद्योगों का केन्द्र भी ग्राम ही होना चाहिये जहां कृषक अपने अवकाश का सदुपयोग कर अपनी आर्थिक अवस्था भी सुधार सकें तथा राष्ट्रीय धन की भी उत्पत्ति द्वारा वृद्धि कर सकें। केन्द्रित उद्योगों को बड़ी धनराशि चाहिये जो ग्रामों में अप्राप्य है। यदि है भी तो वही थोड़े लोगों के पास। इससे भी तो वही मतलब हुआ। उद्योग तो वह है जिसका लाभ सब उठा सकें। बड़े उद्योगों की तरह नहीं, जहां तेल का पूरा पूरा लाभ मालिक उठाता है और एक रूखा टुकड़ा खली का बैल की तरफ फेंक देता है। इस देश में मजदूर काफी संख्या में हैं। बड़े-बड़े कारखाने मजदूरों की और भी कमी कर देते हैं जिससे बेकारी बढ़ती है। अपने उत्पादित सामान को बेचने के लिए भी हमारे पास बाजार नहीं है, जैसी सुविधा दूसरे देशों को प्राप्त है। हमारा देश गरीब है अतएव केन्द्रित उद्योगों द्वारा ग़रीबी की समस्या का हल न होते हुए धन का एक स्थान पर संचय होते-होते विषमता ही बढ़ेगी। अतएव ग्रामोद्योगों तथा गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन ग्रामों के पुनर्निर्माण में पहिला कार्य-क्रम होना चाहिये। इसी आवश्यकता को दृष्टि में रखकर दस्तकारी के मूल उद्योग द्वारा शिक्षा बुनियादी शिक्षा का सिद्धांत है।

इन ग्रामोद्योगों के नष्ट होने का दुष्परिणाम क्या हुआ? यही कि कारखानों के सामान से बाजार लदने लगे और गांव का कारीगर भूखा मरने लगा। उसको भी अपनी आजीविका के लिये धरती माता ही की शरण लेनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि जमीन की

आवश्यकता से अधिक उसका उपयोग करने वाले हो गये और वह उसके द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति भी न कर सके और दूसरी ओर पूरे समय के लिये काम न होने से बेकार भी रहने लगे। इसी के साथ-साथ जब जमीन ऐसे लोगों के हाथ पड़ी जो खेती का काम ही नहीं जानते थे तो देश की खेती की योग्यता मे भी कमी आती गई। खेती में जमीन के विभाग और उपविभागों के कारण भी आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से हानि हुई। अतएव इस कारण भी हमारी छोटी-छोटी सी जमीन तथा छोटे-छोटे गांवों को खेती की बड़ी कलें उपयोगी नहीं हो सकती है। ग्रामों का आर्थिक जीवन तो गौ-वंश से ही केन्द्रित रहेगा जो थोड़ी जमीन भी जोत लेते है और मनुष्यों की भाँति जो धरती माता से चारे के रूप में प्राप्त करते है उसके बदले गोबर के रूप मे वापिस भी दे देते है। शाकाहारी लोगों को उसका दुग्ध स्वास्थ्यप्रद होता है। गौका घी भैंस के घी से १० गुनी शक्ति रखने वाला होता है। भैंस की अपेक्षा बीमारियां भी उसे कम लगती हैं। उसके दूध देने पर सर्दी गर्मी का प्रभाव होता है। वह भैंस से एक तिहाई समय दूध से खाली रहती है। उसको दाना-चारा पानी कम चाहिए अतएव हमारा ग्रामीण अर्थ-शास्त्र गौ वंश से केन्द्रित है। यह हमारी भूल है कि हम उसके गोबर को ईंधन की तरह जलाते है, जबकि गोधन की तरह उसको पूजा करते हैं जो वास्तव में भारत जैसे कृषक देश का खाद रूप में धन ही है।

ग्रामोद्योगों के सहकारी जीवन के द्वारा सिक्के तथा धन के अदल-बदल के बदले, वस्तुओं का व्यवहार मे बदला चलेगा। केन्द्रित उद्योगों में उत्पादित वस्तुएं तो कारखाने-दारों के अधिकार में ही रहेंगी। वे उनके कुछ भी दाम ले सकेंगे और आवश्यकता पड़ने पर कुछ भी मजदूरी दे सकेंगे। इस प्रकार धन जब व्यापार का माध्यम होता है तो कई आर्थिक समस्याएं पैदा होती है। इस-लिए बापू कहते थे कि मेरी पद्धति मे तो मजदूरी ही चालू सिक्का

रहेगा धन नहीं। प्रत्येक आदमी जिसके पास यह सिक्का है वह उस सिक्के को कपड़े में अन्न से बदल सकता है। यदि वह घी चाहता है तो अपने परिश्रम का गेहूं दे देगा।

व्यापार की दृष्टि से भी ग्राम प्रायः स्वावलम्बी ही होंगे और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। यदि आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति हो सकी तो उसका व्यापार होगा। व्यापार अधिकतर कच्चे सामान का नहीं होगा जो कि स्थानीय उद्योगों द्वारा समाजोपयोगी बनाया जा सकता है। क्योंकि किसी चीज को समाजोपयोगी बनाने में उसकी शकल को पूरा होने से निकट की अवस्था में जो परिश्रम की कीमत होती है वह कच्चे सामान के पास नहीं होती है। इस-लिए कृषि तथा उद्योग दोनों एक राष्ट्र शरीर के फेफड़े हैं। इसलिए कच्चा सामान ग्रामों से प्राप्त करके उनको उद्योग द्वारा समाजोपयोगी बनाने के लिये औज़ार वगैरा भी ग्रामों में ही बनाये जांय। इससे इस उद्योग की भी उन्नति होगी, सुधार होगा, धन भी यहीं रहेगा तथा सहकारी जीवन का भी संगठन होगा और ग्राम का अर्थ-शास्त्र दृढ़ होगा। ऐसे उद्योगों का निर्माण होना चाहिए जिनमें लागत कम लगे तथा जिसमें ज्यादा पेचीदगी भी न हो। आरम्भ में ऐसे ही सामान पैदा किये जांय जो कि स्थानीय आवश्यकता की ही पूर्ति करते हों। बुनियादी शिक्षा में मूलउद्योग चुने जाने के जो सिद्धांत निर्धारित किये गये हैं उनके अवलोकन से यह स्पष्ट होगा कि बुनियादी शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति का कहाँ तक प्रयत्न कर रही है।

राजनीतिक दृष्टि से राम-राज्य अथवा स्वराज्य की कल्पना में ग्रामों को स्वावलम्बी, स्वाश्रयी तथा स्वयं प्रेरित समाज के रूप में माना है। इनका संचालन स्वयं निर्मित ग्राम-पंचायतों द्वारा होना चाहिए। इसके लिए अनुशासन, कर्तव्य, अधिकार तथा उत्तरदायित्व को समझने की योग्यता अभ्यास द्वारा बचपन से ही प्राप्त होनी

चाहिये। बालक न्याय तथा अहिंसा के मार्ग का अनुशीलन कर अपने भावों तथा विचारों को मौखिक तथा लेखों के रूप में प्रभावोत्पदक ढंग से अपने समाज में व्यक्त कर सके तथा उसके संचालन में क्रियात्मक सहयोग देकर अपने लिये उस सहकारी समाज का अंग मानता रहे। उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति बुनियादी शिक्षा में सामाजिक जीवन की व्यवस्था, मंत्रि-मंडल, सभाओं के आयोजन और कामों का उत्तरदायित्व दिये जाने से पूरी होती है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी शारीरिक श्रम शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति करेगा जिसके द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होगा। उसे सही-सही निर्णय करना और निरीक्षण करना आवेगा। धैर्य, चतुरता, मौलिकता, व्यवस्था, शासन, भौतिक पदार्थों का तथा संसार के व्यवहार का यथार्थ ज्ञान, आविष्कार की योग्यता और विचारों की स्वतन्त्रता आदि गुण उस शिक्षा के अंग भूत होंगे। यह तभी हो सकेगा जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपने कार्य की व्यवस्था में छोड़ दिया जायगा। वह अपनी स्वेच्छा से अपने उद्योग द्वारा उसकी सुन्दरता तथा उपयोगिता आदि को बढ़ा सकेगा और उसकी उन्नति कर सकेगा। इस प्रकार उसकी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति होगी और वास्तविक संस्कृति का निर्माण होगा। इस प्रकार के जीवन से प्रत्येक व्यक्ति समझेगा कि समाज-सेवा द्वारा वह अपनी ही सेवा कर रहा है और समाज भी यह समझेगी कि एक नम्र से नम्र समाज के सदस्य से समाज का जीवन जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का आर्थिक जीवन एक आध्यात्मिक जीवन हो जायगा और काम या मजदूरी न केवल आजीविका कमाने मात्र का साधन माना जायगा वरन् समाज-सेवा द्वारा ईश्वर तक पहुँचाने का साधन तथा ईश-पूजा मानी जायगी। प्रीति की मजदूरी जो अपने पड़ोसी के हित की दृष्टि की गई हो, व्यक्ति को व्यक्तिवाद के गढ़े से निकाल कर समाज के बड़े शरीर का अंग बना देती है वह उसके आध्यात्मिक गुणों का विकास करके उसका आत्मोत्सर्ग

करती है। इसलिए काम के महत्व को समझ कर काम को बुनियादी शिक्षा में बापू ने प्रमुख स्थान दिया है।

इस प्रकार क्या आर्थिक, क्या राजनीतिक, क्या सांस्कृतिक किसी भी दृष्टि से देखने से बुनियादी शिक्षा ग्राम-सुधार के किसी पहलू को छुए बिना नहीं रहती है।

५४

विश्व-शांति और शिक्षा

मनुष्य मनन-शील है। इसीलिये वह उन्नति शील भी है। उन्नति विचार की अनुगामिनी है। विद्या-बुद्धि में मनुष्य ने आश्चर्य-जनक उन्नति की है। भौतिक बल मे अवश्य वह पशु-समुदाय से पिछड़ा हुआ है किन्तु उसकी कमी उसने अपने बुद्धिबल से करली है। यद्यपि जीवन-संग्राम और योग्यता की अवस्थिति ही विकास के कारण माने गये हैं। तब भी इस जीवन-संग्राम की घातकता को कम करने में ही मनुष्य की मनुष्यता है और उसका गौरव है। उन्नति के रक्त-हीन साधन ही मनुष्य को पशु-समाज से ऊचा उठाये हुए हैं। इतना होते हुए भी हर एक युद्ध-युद्ध के अन्त करने को किया जाता है किन्तु उसी में भावी युद्ध के बीज सुरक्षित बने रहते हैं। इसलिए यह मानना तो ठीक न होगा कि युद्ध जीव विज्ञान की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात से नहीं हुआ है। केवल बुद्धिबल के ही बढ़ने से युद्ध की विभीषिका भी सुरसा के मुख की भांति प्रसारित होती जाती है। अनेक आविष्कार हुए जो कि विश्व में सुख तथा शान्ति के साधन हो सकते हैं किन्तु वह सृष्टि के संहार के ही लिये काम में लाये जा रहे हैं। किन्तु भौतिक बल के ही आधार पर हमेशा से साम्राज्य स्थापित नहीं हुए हैं। रोम ने यूनान पर राजनैतिक साम्राज्य स्थापित किया किन्तु सभ्यता के क्षेत्र

में यूनान ने अपनी धाक जमाकर रोम को पराजित किया। इस प्रकार प्रेम और परोपकार की भावना ने ही एक राज्य को दूसरे की आधीनता स्वीकृत कराई है और वह अधिक स्थायी और गौरव-पूर्ण रही है। इसलिये वास्तविक उन्नति तथा शान्ति को बुद्धि-बल के साथ-साथ नैतिक बल की भी अत्यन्त आवश्यकता है इसीलिये बापू ने शरीर, मन और आत्मा के गुणों के विकास को सच्ची शिक्षा माना है। सच्ची शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व के संतुलित विकास को मानते थे।

आज की दुनियाँ में केवल भौतिकवाद का ही ताण्डव चल रहा है, उसमें आध्यात्मिकता का लेश भी नहीं है। इसलिये यदि भौतिक संसार को कायम रहना है और विनाश से बचना है तो उसको आध्यात्मिक और नैतिक बन्धन में बांधा जाना चाहिये। भौतिक-वाद और अध्यात्मवाद का ही समन्वय यह कार्य कर सकता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है, क्यों कि शिक्षा जीवन को गढ़ने की टकसाल है जिसमें मनुष्य समाज में रहने की क्रिया सीखता है। मनुष्य की प्रत्येक शक्ति का उद्देश्य एक सफल सामाजिक जीवन की योग्यता प्राप्त करना ही है।

काम मनुष्य की बुनियादी प्रवृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। उसी के द्वारा वह अपनी सारी शक्तियों का विकास करता है और व्यक्ति-गत तथा सामाजिक-जीवन में आनन्द का अनुभव करता है। जब वह किसी प्रकृति की वस्तु को लेकर उसे समाजोपयोगी रूप देना चाहता है तो वह स्वयं उत्पत्ति-कर्ता बन जाता है और उसके द्वारा उसमें आन्तरिक शक्ति और आत्म-विश्वास बढ़ता है। यह बुनियादी शिक्षा का मूल सिद्धान्त है जिसके जन्मदाता बापू थे।

इस समय की बुराइयों में सब से बड़ी बुराई काम को धर्म और कला से जोड़ने की है। इसके द्वारा मनुष्य केवल एक मशीन के पुर्जे की तरह हो गया है। इसने संगठित कुटुम्ब तथा सामाजिक जीवन

को नष्ट प्रायः करके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विपक्ति वातावरण खड़ा कर दिया है। इसका मूल कारण जड़वाद है जिसके द्वारा पश्चिम में लगातार मजदूरी से तथा पूर्व में निर्धनता के कारण जनता का शोषण हो रहा है। यह केवल कल्पना ही है कि कलों द्वारा थोड़े समय में काम होकर काफी फुरसत मिल सकती है जिससे मनुष्य और अधिक उन्नति कर सकता है किन्तु इस प्रकार के केन्द्रित उद्योगों मे मनुष्य केवल धन के लिये ही काम करता है। इस प्रकार वह भी जड़वादी हो जाता है जो स्वयं अपने सुख और आराम को रुपये से खरीदना चाहता है। प्रत्येक दिशा में उसकी आवश्यकताएं और इच्छायें मकड़ी के जाल की तरह ही फैलती जाती हैं और रहन-सहन का तरीका विलास-प्रिय होता जाता है। एक परिस्थिति आ पहुँचती है जब मांग के मुताबिक चीजों का प्राप्त होना दुःसाध्य हो जाता है और परिणाम-स्वरूप अधिक से अधिक पृथ्वी के भण्डार का उपयोग करने की इच्छा से साम्राज्य-वाद की जड़ जमती है और अन्तिम परिणाम होता है युद्ध तथा अशान्ति।

इसका उपाय यही हो सकता है कि देश की एक ऐसी अर्थनीत का विकास किया जाय जो स्वभाव से ही शान्ति प्रिय हो जिसके द्वारा ऐसा उत्पादन ही न हो जो युद्ध का कारण हो सकता हो। इस प्रकार की आर्थिक नीति बुनियादी शिक्षा का सिद्धान्त है। इसका उद्देश्य है प्रत्येक देश मे सृजनात्मक सहकारी जीवन। यह प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के दृष्टिकोण को ही बदलेगा जिसमें पूरे मानवता की दृष्टि से आवश्यकताओं पर विचार किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताएं ही वास्त-विक आवश्यकताऐं हैं और वह समान हैं। यदि प्रत्येक देश इस दृष्टि से इन पर विचार करेगा तो बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निराकरण हो सकता है जो केवल जड़ वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति-मात्र में ही समाविष्ट रहते हैं।

जब तक राष्ट्रों का उद्देश्य जड़वाद को बढ़ाना और रहन-सहन को ऊँचा ही ऊँचा करना रहेगा तब तक एक विश्व-शासन तथा विश्व-शान्ति की कल्पना निर्मूल है। क्योंकि आवश्यकताएँ साम्राज्यवाद की जड़ों को जमायेंगी जिसके द्वारा राष्ट्र की सम्पत्ति सेना में खर्च होगी, विद्रोह बढ़ेंगे, आदर्शों के झगड़े पड़ेंगे और परिणाम होगा अशान्ति। इसलिये बुनियादी शिक्षा-द्वारा रहन-सहन की सरलता, सत्यता और अहिंसा ही पारस्परिक प्रेम, विश्वास और सहानुभूति स्थापित कर सकती है।

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें उत्तर दायित्व हो, सहकारिता की भावना हो और उत्पादन की योग्यता हो। जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समाज में स्वावलम्बन द्वारा आत्म-निर्भरता तथा आत्म-विश्वास बढ़े। समाज के विस्तार की दृष्टि से वह इतना ही होना चाहिये कि उसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रख सके। जिसमें छोटे पैमाने पर उद्योग-सहकारी अधिकार में हों व सहकारिता के द्वारा ही संचालित हों। उनके आर्थिक तथा सामाजिक जीवन का संगठन ही उनका राजनैतिक जीवन होगा। कृषि और गृह तथा ग्रामोद्योगों का एक दूसरे में जोड़ देना संगठन को अधिकाधिक मजबूत करेगा।

इस दृष्टिकोण से हमको बुनियादी शिक्षा अथवा जीवन-कला सीखनी है। इसी शिक्षा की पद्धति बुनियादी है, क्योंकि वह एक जीवन की रीति है जिसके द्वारा विकास होगा जो केवल धन कमाने अथवा मुनाफेखोरी मात्र की शिक्षा नहीं है। पहले प्रकार की शिक्षा में मनुष्य को सब प्राप्त होता है क्योंकि वह सब देता है। दूसरे प्रकार की शिक्षा में वह सब खो देता है, क्योंकि वह सब प्राप्त करना चाहता है। स्वयं की दातव्य प्रकृति से सब जगह हाथ व हृदय खुलता है जिसके द्वारा हृदय से हृदय जुड़ते हैं, आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है। अपने प्राप्त करने मात्र की धुन

में हम केवल मृतक वस्तुएँ ही पकड़े रहते हैं बहुमूल्य जीवित रत्न खो बैठते हैं।

इस प्रकार की शिक्षा का निर्माण बुनियादी शिक्षा द्वारा सामाजिक जीवन के संगठन से हो सकेगा जो स्वयं प्रेरित, स्वाश्रयी, स्वयं संचालित रूप में निर्मित होंगी। इसका उद्देश्य होगा विश्व में मानवता की स्थापना करना तथा उस जीवन का अभ्यास करना जिसमें सरल जीवन हो, स्वयं का अनुशासन हो। जो अपनी आवश्यकताओं को मनुष्य जाति की आवश्यकता तथा पृथ्वी-दत्त साधनों की दृष्टि से रखेंगे। जो अपने को विश्व तथा मानव परिवार का अङ्ग समझेंगे। उनके साथ समानता तथा एकता के भाव की जागृति करेंगे। व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयत्नों द्वारा इस प्रकार के जीवन का निर्माण करने की योजना करेंगे। अपने दूसरे साथियों को इन बुनियादी सामाजिक आवश्यकताओं की जरूरत समझावेंगे। इस प्रकार क्या देश में, क्या विदेश में, क्या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, अधिक से अधिक स्वतन्त्रता, न्याय, सत्य और अहिंसा की जड़ मजबूत होगी जिसके द्वारा विश्व अमर शान्ति का अनुभव करेगा।

५५

पूर्व बुनियादी तालीम

बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना में ७ वर्ष से १४ साल तक के बच्चों के लिये शिक्षा की पद्धति पर विचार किया गया है। जब यह विचार सामने आता है कि मनुष्य की शिक्षा उसकी प्रथम श्वास से आरम्भ होकर जीवन के अन्तिम क्षण तक चलती है तब बालक की इस अवस्था से पूर्व की शिक्षा की समस्या पर ध्यान आता है। इस अवस्था के पूर्व की शिक्षा को ही पूर्व बुनियादी नाम दिया गया है। इस अवस्था की यह शिक्षा कम मुश्किल और कम महत्व की नहीं है। इसके लिये भी अच्छे से अच्छे शिक्षक और अच्छे से अच्छे साधन चाहिये। इस देश में अभी इस अवस्था के बच्चों की तालीम पर पर्याप्त विचार ही नहीं किया गया है। जो कुछ थोड़ा-सा विचार भी हुआ है तो वह शहरों में धनिकों के बच्चों ही के लिये हुआ है। राष्ट्रीय योजना जैसी सर्व साधारण के उपयोग के लिये निर्माण की गई है उसी प्रकार इस योजना के पूर्व की और उस योजना के बाद की शिक्षा की रूप-रेखा भी सार्वजनिक ही होना चाहिये।

सबसे पहिले हम यह विचार करेंगे कि बच्चों के विकास के लिये, उनकी तालीम के लिये, कौन-कौन-सी बातें आवश्यक हैं। छोटे बच्चों की तालीम में या विकास में सबसे पहिली बात है उनके शरीर का विकास। हमारे देश में शारीरिक विकास की

दृष्टि से अहार का प्रश्न विचारणीय है। यहाँ के बच्चों को उचित अहार नहीं मिलता है। एक ओर जहाँ ७० प्रतिशत गरीब बच्चों को जीवन धारण के लिये भी आवश्यक भोजन पर्याप्त नहीं होता तो दूसरी ओर धनिकों के बच्चों को या तो आवश्यकता से अधिक अहार मिलता है और या वे सही प्रकार से सही सही स्वास्थ्यप्रद भोजन करना भी नहीं जानते हैं। अतः सबसे पहिला स्थान बच्चों के पोषण के लिये उचित अहार का है। इसका प्रबन्ध कम से कम एक बार का स्कूल मे ही होना चाहिये; जिससे उनके घर में जो खाना मिलता है, उसकी कमी पूरी हो सके। यह कम से कम खर्चे में और साथ ही सुविधा से जो सामान उस क्षेत्र में मिल सके उसी से करना ठीक होगा। इस अहार योजना के द्वारा बच्चों के शरीर का ही विकास नहीं होगा, बल्कि यदि ठीक व्यवस्था की गई, तो उनके हाथ-पैर और इन्द्रियों तथा नागरिकता और उनकी बुद्धि के विकास की शिक्षा का एक साधन बन जायगा। एक प्रभावशाली व प्रतिभाशाली शिक्षक ग्रामों में पालकों के सहयोग से इन बाल-मन्दिरों के बालकृष्णों के नैवेद्य के लिये पालकों की खेती, बागवानी, गौपालन आदि से अनाज, फल, शाक सब्जी और दूध, मट्ठा आदि का प्रबन्ध किफायत से कर सकेंगे जो पुनः सामूहिक रूप से उन्हीं के बाल बच्चों को प्राप्त हो सकेगा।

ग्रामीण बच्चों के लिये जैसा खाने का सवाल है, वैसा ही पीने के पानी का। ग्रामों में स्वच्छ पीने का पानी मिलना कठिन है। लोग उसको साफ स्वच्छ रखना जानते भी नहीं हैं। अतः स्वच्छ पानी रखना और सही रीति से उसका उपयोग करना सिखाना भी इस प्रारम्भिक शिक्षा का अङ्ग होना चाहिये।

खाने पीने के पश्चात् सफाई तीसरा अङ्ग है जिसकी सबसे बड़ी कमी हमारे राष्ट्रीय जीवन में है। इसीलिये गांधी जी ने कहा है कि 'नई तालीम सफाई से शुरु होती है।' इसकी बुनियाद छोटी से छोटी उम्र मे डाली जानी चाहिये जिससे वह अपने शरीर की,

अपने कपड़ों की, अपने उपयोग की वस्तुओं की और आस-पास की सफाई का बचपन से ही अभ्यासी हो जाय। सफ़ाई से ही जुड़ी हुई व्यवस्था भी है। सफाई के साथ ही साथ चीजों को यथा स्थान व व्यवस्थित रखना भी आना चाहिये। यह व्यवस्था और सजावट ही जीवन में कला का आरम्भ है।

बालक स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं। वे चुपचाप नहीं रह सकते हैं। इसलिये अब प्रश्न आता है बच्चों को काम और खेल की व्यवस्था का। छोटे बच्चों की दृष्टि से काम और खेल में कोई अन्तर नहीं होता है। बच्चों की दुनियां में बड़ों की तरह काम और खेल के बीच दीवार नहीं होती है। बुनियादी तालीम में भी काम और खेल ऐसे दो विभाग नहीं है। बच्चों के लिये सभी खेल ही खेल हैं। काम और खेल के बीच काल विभाजन नई तालीम ही नहीं है। बच्चे जो बड़ों को करते देखते हैं उनका अनुकरण करना ही उनका काम और उनका खेल है। जब बच्चों को बड़ों की तरह काम करने के साधन नहीं मिलते तो वह कल्पना जगत में ही उसकी पूर्ति करके सन्तोष मानने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इसमें उनको वह आनन्द नहीं आता है जैसा कि वास्तविक साधनों के साथ काम करने में जिसकी गणना भी बच्चों की भाषा में खेल ही में होती है। खेलों के सिद्धान्तों की मीमांसा करते हुए यह बताया ही गया है कि खेल आगामी जीवन की तैय्यारी ही है। उदाहरणार्थ बच्चे बड़ों की नकल करने में मिट्टी आदि की रोटियाँ बनाते हैं किन्तु यदि उनको छोटे-छोटे बर्तनों व साधनों से छोटी-छोटी आटे ही की रोटी बनाने को दी जाय तो उनको बहुत ही आनन्द व सन्तोष प्राप्त होता है। अतः इस अवस्था के बच्चों के लिये काम में आने वाले छोटे-छोटे सामान की व्यवस्था होनी चाहिये। उदाहरणार्थ छोटे-छोटे झाड़ू, डलियाँ, बाल्टियाँ, कटोरियाँ, गिलास, टेले आदि। लेखक ने स्वयं ने अनुभव किया है कि बच्चे कितनी रुचि से काम करते हैं और खेल ही खेल में कितना

उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। स्वयं सेवा ग्राम के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि इस अवस्था के बच्चे भी जो प्रायः सब ही परिवारों मे दूसरों के ही आश्रित रहते है और माने भी जाते हैं किस प्रकार उस बड़े परिवार के अंग बने हुये बड़ों की भाँति अपने योग्य काम लेकर सामाजिक व्यवस्था में कैसा अच्छा हाथ बँटाते हैं। उदाहरणार्थ बरतन साफ करते समय अपने वर्तन व दूसरे छोटे-छोटे वर्तन साफ करना, अनाज साफ करना, परोसने में नमक व घी या तेल सफाई से परोसना, भाजी काटने मे भाजी साफ करना एक स्थान से दूसरे स्थान को इकट्ठा करके लाना व ले जाना, सामान को यथा स्थान लगा देना व काम के पश्चात् उटा लेना, चटाईयाँ बिछाना व उठाना। पंक्तिबद्ध होकर एक दूसरे के बाद काम करना, व्यवस्था मे स्वभाविक अनुशासन रखना।

इन सब कामों को करने में बच्चे इतनी कुशलता का परिचय देते है जितनी कुशलता व उत्तरदायित्व का कभी-कभी बड़ों मे भी अभाव पाया जाता है। यह सब बच्चों के लिये खेल ही है। तात्पर्य यह है कि बच्चों के काम की योजना भी ऐसी ही स्वभाविक होना चाहिये जिसमे वह खेल का सा ही आनन्द ले सकें। इस अवस्था के काम की योजना में ऐसी ही नैमित्तिक जीवन की क्रियाओं का समावेश होना चाहिये।

बच्चों के खेल के पहलू पर विचार करने के पश्चात अब प्रश्न आता है खेल के साधनों का। आजकल प्रायः बाल मन्दिरों मे मैडम मान्टेसरी द्वारा निमित इन्द्रियों की तालीम के साधनों का उपयोग किया जाता है। हम माता मान्तेसरी के उपकारों को भी नहीं भुला सकते हैं जिन्होंने बाल जीवन को कई प्रकार से अध्ययन किया है और उसकी शिक्षा के साधन जुटाने में योजना बनाई है। हम उनका पूरा सम्मान करते हैं। किन्तु हम यह भी नहीं भुला सकते हैं कि बच्चा होता है आत्माराम। वह स्वयं ही अपने विकास के लिये अपनी सृजन शक्ति से अपने खेल और खेल के साधन

तैय्यार करता है व इकट्ठा करता है। बच्चों द्वारा इकट्ठी की गई चीजों ,को देखा जाय तो यद्यपि बड़ों के विचार से ये सब वृथा व निकम्मी हों तो भी हैं ये उनके विकास के सच्चे साधन। इन्हीं अनमोल साधनों से वह अपने आनन्द की दुनियाँ बनाता है। जैसे-जैसे उसका विकास होता जाता है वह स्वय ही पूर्व के साधनों को छोड़ता हुआ नये-नये साधनों की खोज में लग जाता है। इस प्रकार उसकी तालीम नई ही नहीं वरन् नित्य नई बनी रहती है। इस प्रकार के इन्द्रिय विकास के साधनों के निर्माण में हमे वैज्ञानिकों के प्रयोगों से अवश्य ही लाभ उठाना है; किन्तु हमको हमारी देहाती स्थिति और वहाँ के सहज प्राप्त साधनों की ओर भी पूरा ध्यान रखना पड़ेगा अन्यथा कृत्रिम साधनों से बच्चे सच्चे आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेंगे।

बच्चों की तालीम में कहानियों और अभिनय भी अच्छे साधन हैं। इन्हीं के द्वारा बच्चों को भाषा का ज्ञान होता है। और सामाजिक शिक्षा का श्री गणेश होता है। साहित्य रस का पहिला स्वाद बच्चे इन्हीं कहानियों से चखते हैं। बड़ों के अनुकरण करने की स्वभाविक प्रवृत्ति का उपयोग अभिनय में किया जा सकता है। इसी प्रकार संगीत और नृत्य भी बच्चों के विकास के साधन हैं। देहातों में भी ग्राम्य गीत, ग्रामीण कला, लोक संगीत, लोक नृत्य और वहाँ के प्राकृतिक वातावरण में हमें सच्ची कला और साहित्य का वृहद् भण्डार मिल सकता है। बच्चों को इनके अनुकरण की स्वभाविक प्रवृत्ति होती है।

तात्पर्य है कि बच्चों के मदरसे स्वभाविक रूप से क्रियाशील ही होंगे, क्योंकि कुछ न कुछ करते रहना ही बच्चों का काम है। यह क्रियाशीलता ही उनकी शिक्षा का साधन है। इस क्रियाशीलता की योजना में इन चार बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) बच्चों को अपना काम चुन लेने की आज़ादी बच्चों को मिलना चाहिये। इसलिये यह आवश्यक है कि बहुत ही सोच समझ

कर सावधानी के साथ उनका वातावरण निर्माण कर बच्चों को उसमें छोड़ देना चाहिये जिससे वे अपनी रुचि के अनुसार काम चुन लें। साधन जुटाने में यह ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिये कि उनका उपयोग बच्चे कर सकें। उपयोग में आने वाली चीजें व साधन बालकों की शक्ति के अनुसार ही हों। बड़ों को अपनी रुचि के अनुसार काम करने का दबाव बच्चों पर नहीं डालना चाहिये।

(२) बच्चों को अपने प्रयत्न से ही अपने चुने हुये काम को पूरा करने का अवसर दिया जाना चाहिये। शिक्षक एक दर्शक की भांति उनके पास अवश्य रहे व उलझन के समय सहायता की मांग होने पर ही सहायता दिया जाना उचित होगा। काम जल्दी कराने की उत्सुकता में, अपनी ओर से ही बिना बच्चों की ओर से सहायता की मांग किये हुये ही, सिखाना बच्चों के आनन्द को नष्ट कर देना है। उनको अपने कार्य की पूर्त्ति के साधन स्वयं खोजने दिया जाय।

(३) बच्चों को स्वयं ही सोचने दिया जाय। उनके नन्हें-नन्हें दिमागों पर हमको हमारी सूझ और हमारा निर्णय थोपना या लादना नहीं है। बच्चों के सोचने की उनकी खुद की एक रीति होती है। जितना बोझ उनका मस्तिष्क उठा सकता है उतनी ही उनकी सूझ होती है। इसलिये परिणाम पर पहुचने देने में हमें उनकी ही रीति से काम लेना ठीक है।

(४) बच्चे में कार्य की स्वयं स्फूर्ति हो। काम बच्चे पर लादा न जाय। लादे हुये काम में से खेल की भावना चली जाती है। बच्चे को जब काम करने की आन्तरिक प्रेरणा हो तब ही उसे काम करने को दिया जाय। इस आन्तरिक प्रेरणा को यथा समय जागृत करना एक कुशल शिक्षक का कार्य है।

पूर्व बुनियादी तालीम की अवधि जन्म से सात वर्ष तक की अवस्था है किन्तु जहां तक शिक्षण संस्थाओं का सम्बन्ध है यह

अवधि बच्चे के पैरों चलने से यानी २ वर्ष से ७ वर्ष तक यानी पांच साल रहती है। इस अवधि के कहीं-कहीं दो भाग किये गये हैं। (१) पहिला भाग चार वर्ष की अवस्था तक रहता है। इस समय में बच्चे का शारीरिक विकास, उसका भोजन, उसके सोने जागने का उचित समय और उसके खेल कूद का प्रबन्ध ही विचार का प्रधान विषय है। (२) दूसरे भाग में मानसिक विकास, आदतें बनना, सामाजिक अच्छाइयों का समावेश होता है।

इसी के अनुसार इंग्लिस्तान की एक सलाह कार समिति ने इन बच्चों के स्कूलों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त नियत किये हैं:—

(१) छोटे बच्चों के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इनका वातावरण स्वास्थ्य प्रद हो और उसमें ताजी हवा, सूर्य की रोशनी, धूप और जगह की काफ़ी गुंजायश का ख्याल रखा जाय।

(२) उनको स्वास्थ्य प्रद, आनन्द वर्धक और संयमित जीवन के सामान मिले और डाक्टरी मदद का भी प्रबन्ध हो।

(३) बच्चों में अच्छी आदतें और तरीके पैदा करने का प्रयत्न किया जाय।

(४) बच्चों को रुचि पूर्ण कार्य करने के साधन उपलब्ध हों और कल्पना शक्ति के विकास का अवसर दिया जाय।

(५) बच्चों को आपस में मिल जुलकर काम करने, रहने और सामाजिक जीवन बिताने का अवसर दिया जाय।

(६) बच्चों का घर के जीवन से सम्बन्ध रखा जाय।

इसी से मिलते-जुलते सिद्धान्त शिक्षा शास्त्री मि० वुड और एबट ने अपनी रिपोर्ट में दिये हैं। उन्होंने लिखा है कि इस अवस्था में बच्चों को तालीम से ज्यादा अनुभव की आवश्यकता है। इस समय की तालीम के कार्य क्रम में उनके अनुसार शारीरिक विकास, अच्छी आदतों का पैदा करना और रुचि पूर्ण क्रियाओं द्वारा अनुभव प्राप्त करना ही उसका ध्येय है। उदाहरणार्थ इन क्रियाओं का समावेश प्रस्तावित किया गया है (१) खेल कूद, कसरत (२) गाना (३)

अभिनय (४) नाच (५) फूल पौदे लगाना (६) जानवर व पक्षी पालना (७) चित्रकला (८) चीजे बनाने मे सृजनात्मक शक्ति का उपयोग ।

संक्षिप्त में बच्चों की तालीम के कुछ सिद्धान्त सर्व मान्य हो गये हैं:—

(१) बच्चों मे सहयोग के साथ एक दूसरे के साथ काम करने की आदत पड़ जाय । उनमें यह बात जागृत हो जाय कि दुनिया का काम एक दूसरे की सहायता के बिना नहीं चलता है ।

(२) बच्चों की तालीम उनकी स्वभाविक अभिरुचि और प्रवृत्तियों के अनुकूल होना चाहिये । बच्चों की क्रिया शीलता—खेल कूद, अभिनय आदि तालीम की एक अच्छी व स्वभाविक रीति है ।

(३) जीवन में काम मे आने वाली उपयोगी क्रियाओं का आरम्भ उनके बचपन की क्रियाओं से ही व्यवस्थित कर दिया जाय जिससे उनके ज्ञान की इमारत उनके स्वयं के जीवन की दृढ नींव की आधार शिला पर बन सके ।

आज के बच्चों की शिक्षा में प्रेम रखने वाले शिक्षा शास्त्रीयों तथा कुशल अनुभवी अध्यापकों का कर्तव्य है कि बच्चों की इस अवस्था की रुचि, आवश्यकता और वातावरण के अनुकूल साधनों में हेर फेर करके अपने देश की परिस्थिति के अनुसार इन बाल मन्दिरों की शिक्षा योजना बनाने मे योग दे ।

५९

उत्तर बुनियादी तालीम

पूर्व बुनियादी तालीम जैसे बुनियादी तालीम के पूर्व की शिक्षा योजना है उसी भाँति उत्तर बुनियादी तालीम बुनियादी तालीम के बाद की शिक्षा योजना है। राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा की योजना में ७ वर्ष से १४ वर्ष तक के बालकों के लिए उद्योग द्वारा शिक्षा देकर बच्चों की शक्तियों का विकास और चरित्र गठन करना उसका ध्येय था। काम के द्वारा बालकों में रुचि पैदा करना, उनकी जिज्ञासा वृत्ति को जगाना, उनकी निरीक्षण शक्ति को पुष्ट करना और उनकी सारी शक्तियों को नैसर्गिक रूप से बढ़ने का अवसर देकर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना ही उसका कार्य-क्रम था। इसके पश्चात यह प्रश्न स्वभाविक ही है कि इस शिक्षा की समाप्ति के पश्चात की शिक्षा की योजना क्या होगी?

सात साल की इस बुनियादी तालीम की योजना में सिद्धान्त रखा गया है कि बच्चों को जो कुछ सिखाया जाय वह किसी न किसी उत्पादक काम ही के द्वारा उसके सामाजिक व प्राकृतिक प्रति-वेश को केन्द्र बनाकर ही सिखाया जाय। यदि प्राकृतिक रूप से शिक्षा का क्रम जारी रहना है तो इस सिद्धान्त को उत्तर बुनियादी शिक्षा योजना में भी वही मान देना होगा। विशेष ध्यान इस बात का रखा जायगा कि विद्यार्थी अब जिस उत्पादक काम का अपने लिए चुनाव करेगा उसका सम्बन्ध विद्यार्थी के भावी जीवन के

व्यवसाय से होना चाहिए। इसमें उस समाज की आवश्यकताओं का भी विचार करना आवश्यक होगा जिसमें वह रहता है क्योंकि व्यवसाय चुनते समय समाज की आवश्यकता का विचार अर्थ शास्त्र का नियम है। उत्तर बुनियादी तालीम में बुनियादी तालीम के अनुसार चरित्र गठन और व्यक्तित्व के विकास का ध्येय रखा जाना तो आवश्यक है ही, साथ ही साथ व्यावहारिक योग्यता को बढ़ाना और भी अधिक आवश्यक है जिससे व्यक्ति की दृष्टि और समाज की दृष्टि से दोनों को ही उपयोगी सिद्ध हो सके। इसलिए उत्पादक काम के द्वारा शिक्षा देने का सिद्धान्त उत्तर बुनियादी शिक्षा योजना में भी स्थिर ही रखना पड़ेगा।

पाठ्यक्रम में अवश्य ही हेर-फेर करना पड़ेगा। आजकल विश्वविद्यालयों की शिक्षा में साहित्यिक और बौद्धिक विषयों की जो प्रधानता है उनमें हेर-फेर करके सन्तुलन करना होगा जिससे सभी शक्तियों का सम्पूर्ण विकास हो। काम के जरिए तालीम देने से बौद्धिक विकास और साहित्यिक ज्ञान का मान कम नहीं होगा वरन् बढ़ ही जायगा, क्योंकि जो ज्ञान प्राप्त होगा वह जीवन की वास्तविक क्रियाओं और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर होगा आज की इस अवस्था के विद्यार्थी जैसी केवल बौद्धिक उन्नति करके निकल कर व्यावहारिक जीवन में असफल और निराश रहते हैं वह परिस्थिति इस उत्तर बुनियादी से निकले हुए विद्यार्थी की नहीं हो सकेगी। वह किसी न किसी व्यवसाय या उद्योग मे स्वावलम्बी होकर लग जायगा और समाज का एक उत्पादक अंग बन जायगा।

उत्तर बुनियादी शिक्षा योजना पर बुनियादी शिक्षा योजना से भिन्न रीति से ही विचार करना होगा। बुनियादी शिक्षा योजना सम्पूर्ण राष्ट्र को ही सुशिक्षित बनाने की अनिवार्य योजना है। अधिकांश बालक तो बुनियादी शिक्षा के पश्चात ही अपने-अपने उद्योग में लग जायंगे। लगभग २०% ऐसे होंगे जो और आगे की तालीम का लाभ उठाना चाहेंगे। इसमें से भी बहुत कम ऐसे होंगे

जो इससे भी आगे की तालीम का फायदा उठावें। इसलिए इन सभी विद्यार्थियों को आगे की तालीम की व्यवस्था होना चाहिए।

बुनियादी शिक्षा के पश्चात ही शिक्षा का काम समाप्त करने वालों को कुछ ऐसे विद्यालय अवश्य ही उपयोगी होंगे जिनमें ऐसे उद्योग धन्धों की शिक्षा दी जाती हो जिनको कि विद्यार्थी अपनी जीवन-वृत्ति का साधन बनावें। इससे उनमें अपने व्यवसाय के लिए अधिक कुशलता प्राप्त हो सकेगी।

आगे की तालीम लेने वाले विद्यार्थियों को उनकी मनोवृत्ति के अनुसार ऐसे उद्योगों के विस्तृत ज्ञान का प्रबन्ध किया जाना उचित होगा जिनके द्वारा वे अपनी जीविका कमा सकें और समाज की आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकें। उनमें से मुख्य धन्धे ये होंगे –

(१) खेती-बागवानी (२) चिकित्सा (३) इन्जीनियरिंग (४) यन्त्रशास्त्र (५) व्यापार (६) कला व्यवसाय (७) बिजली का काम (८) शिक्षण कार्य (९) अखबार निकालना (१०) छपाई व प्रेस व्यवस्था (११) ललित कलाएँ (१२) गृहविज्ञान (१३) धातु विज्ञान (१४) उद्योग धन्धे आदि।

इन कामों के सिखाने की भी सब से उत्तम रीति वह ही है कि जो कुछ भी सिखाया जाय प्रत्यक्ष काम ही के द्वारा सिखाया जाय। जो कुछ भी विषय ज्ञान दिया जाय, वह भी उन्हीं कामों के सिल-सिले में जहाँ-जहाँ जरूरत पैदा हो, दिया जाय। प्रत्येक विभाग के विशेषज्ञ को सावधानी से ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना होगा कि जिसमें आवश्यक सब ही बातें आ जायँ। उदाहरणार्थ खेती सिखानें में गणित, रसायन-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जन्तु-शास्त्र और भूगोल आदि विषय सिखाना ही होंगे। भाषा, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तो सब का अंग हैं ही। यदि विचार पूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो काम के द्वारा शिक्षा योजना

बनाने में आधुनिक पाठ्यक्रम के सब ही विषयों का अच्छा समावेश हो जाता है और ज्ञान में व्यावहारिकता भी आ जाती है।

उत्तर बुनियादी तालीम के भिन्न-भिन्न विभागों को पढ़ाई के लिए जितने विषय सिखाने होंगे नीचे दिये जाते हैं:—

(१) मातृ भाषा (२) गणित (३) सामान्य विज्ञान (४) यन्त्रशास्त्र (५) अर्थशास्त्र (६) कला (७) समाजशास्त्र (८) शिक्षा शास्त्र (९) गृहविज्ञान (१०) सॉगीत आदि।

उत्तर बुनियादी तालीम का ध्येय होगा एक शिक्षित कार्यकर्ता बनाना। वह सिर्फ एक कारीगर ही नहीं होगा बल्कि उसमें आस-पास के वातावरण को बुद्धि पूर्वक समझने की योग्यता होगी। उसकी भावना उदार होगी। वह अपनी जिम्मेवारियों और कर्तव्य के बारे में सजग रहेगा, जीवन के प्रश्नों के बारे मे उसकी अन्तर्दृष्टि रहेगी। समाज के विषय में समतुल दृष्टि होगी जिससे संकीर्णता की गुंजायश नहीं होगी। शरीर मन और आत्मा का सुसमञ्जस विकास होगा। वह कुशल व्यावहारिक भी होगा और आदर्शवादी भी।

उत्तर बुनियादी तालीम की योजना अपने आप मे सम्पूर्ण होना चाहिए जिससे इसके पश्चात ही विद्यार्थी तुरन्त जीवन में प्रवेश कर सके। उसको अपना ज्ञान आगे बढ़ाने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। पाठ्यक्रम की आवश्यकतानुसार अलग-अलग अवधि निश्चित की जायगी। उत्तर बुनियादी तालीम बहुमुखी होगी जिसमे राष्ट्र की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का पूरा ध्यान रखा जायगा।

ग्राम अपनी आवश्यकतानुसार शिक्षा का केन्द्र होगा। एक शिक्षा केन्द्र दूसरे शिक्षा केन्द्र का पारस्परिक सहयोगी सहायक होगा। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न ग्रामीण शिक्षा केन्द्र एक ग्रामीण विश्व विद्यालय का रूप धारण कर लेंगे।

सेवाग्राम में उत्तर बुनियादी का केन्द्र चल रहा है जिसमें पशु-पालन, खेती बागबानी, बुनाई आदि विषयों के द्वारा विद्यार्थियों को

महा विद्यालय की श्रेणी की शिक्षा योजना की व्यवस्था की जा रही है। विद्यार्थी चरित्रवान, कर्मठ, कार्यकुशल, स्वस्थ, समाजसेवी, कर्तव्य परायण कार्यकर्ता बन रहे हैं। उनके जीवन की सरलता, सरसता और सादगी दर्शनीय है, क्या ऐसे भावी नागरिकों से अहिंसात्मक और न्याय पूर्ण समाज की स्थापना में कोई सन्देह है? आवश्यकता है अधिक से अधिक लगन के साथ कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं की एक विशाल राष्ट्र की आवश्यकताओं की दृष्टि से कितने केन्द्रों की आवश्यकता है यह शिक्षा क्षेत्र में कार्य करने वालों तथा राष्ट्रीय शिक्षा योजना में योग देने वालों के विचाराधीन है। प्रयोगों को दूर से देखने मात्र से काम नहीं चल सकता जब तक कि कुशल कार्यकर्ताओं का क्रियात्मक सहयोग न हो।

मुद्रक—कपूरचन्द जैन, महावीर प्रेस, किनारी बाजार, आगरा।